विष्णु प्रभाकर

धरती अब भी घूम रही है

श्री विष्णु प्रभाकर सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। आपकी प्रतिभा के दर्शन हमें आपकी नाटक, कहानी, उपन्यास आदि रचनाओं में होते हैं। सबसे ऊपर आप एक सफल कहानीकार हैं।

'धरती अब भी घूम रही है' में श्री विष्णु प्रभाकर ने अपनी चुनीदा सोलह कहानियां संगृहीत की हैं। इस दृष्टि से ये कहानियां लेखक की विशिष्ट रुचि की परिचायक हैं।

'धरती अब भी घूम रही है' की कहानियां लेखक की उत्कृष्ट कहानियों का सर्वतोभावेन प्रतिनिधित्व करती हैं।
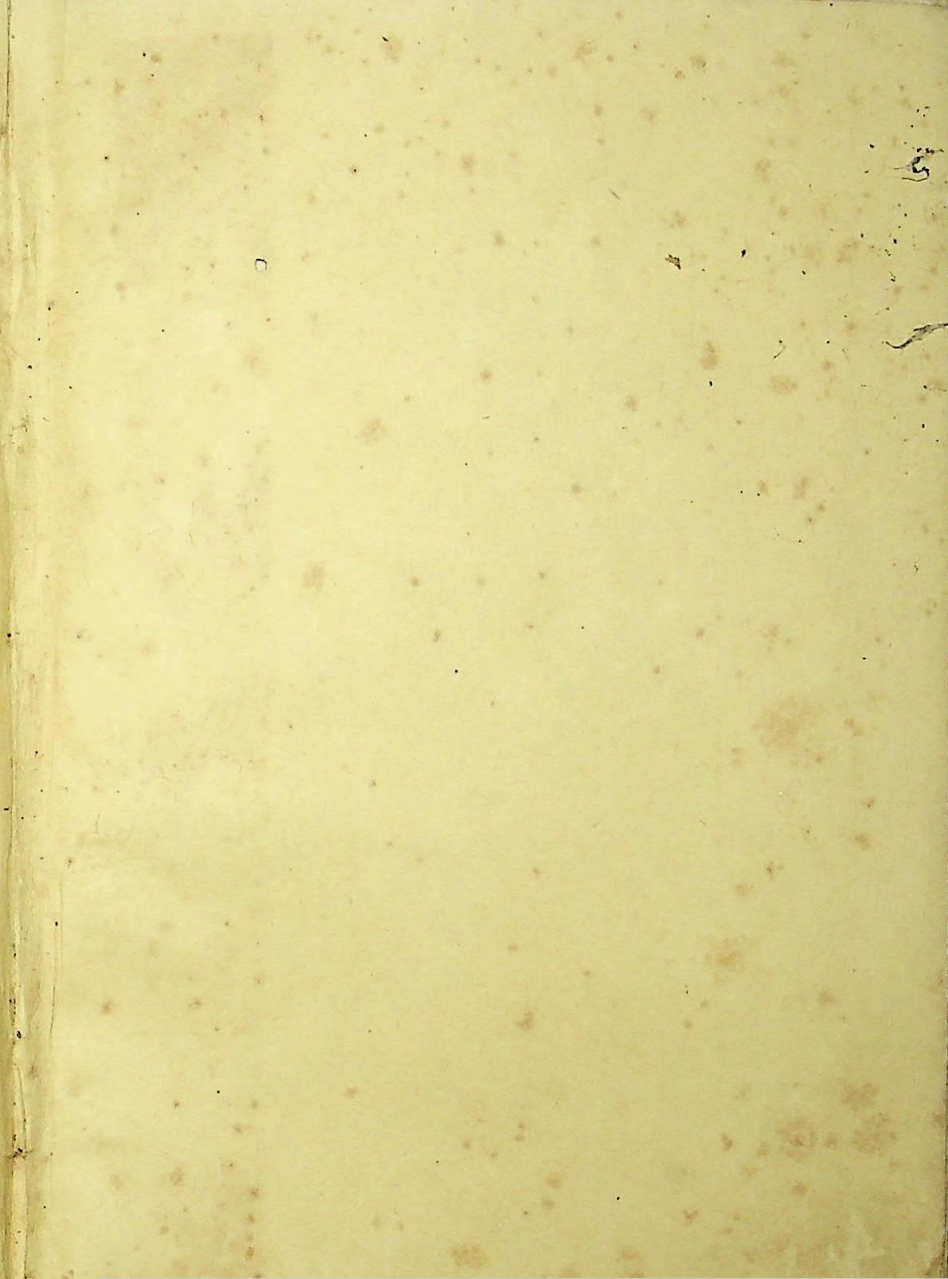
विष्णु प्रभाकर

धरती अब भी घूम रही है
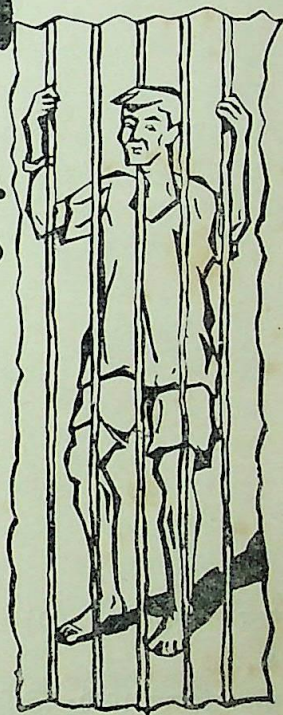
राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

मूल्य : पांच रुपये (5.00)

◊

चौथा संस्करण 1970;
भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली से मुद्रित

DHARTI AB BHI GHOOM RAHI HAI (Short Stories)
by Vishnu Prabhakar

भूमिका

इस संग्रह में मेरी सोलह कहानियां जा रही हैं। मैंने दो सौ कहानियां लिखी हैं, जिनमें से इनका चुनाव एक विशेष दृष्टि से किया गया है। इनमें से प्रत्येक के बारे में मैं अलग से लिख चुका हूं। इसके बाद और क्या लिखने को रह जाता है, यह मैं नहीं समझ पाता।

आज यह माना जाता है कि हिन्दी में कहानी बिकती नहीं है। लेकिन यह एक अद्भुत बात है कि कहानी के क्षेत्र में हिन्दी ने जितनी प्रगति की है वह भी अप्रत्याशित है। इस क्षेत्र में न केवल कथावस्तु की दृष्टि से बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी वह बहुत आगे बढ़ी है। आज के नवयुवक कथाकारों में ऐसे भी हैं जिनपर कोई भी भाषा गर्व कर सकती है। मेरे जैसा व्यक्ति तो उनके सामने बिलकुल फीका पड़ जाता है। फिर भी इतिहास की दृष्टि से प्रत्येक युग का मूल्य होता है। इसीलिए यह संग्रह पाठकों के सामने आ रहा है।

मुझे आशा करनी चाहिए कि ये कहानियां पाठकों को एकदम निराश नहीं करेंगी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये कहानियां मेरी कला का उत्कृष्ट नमूना हैं, लेकिन फिर भी यह सत्य है कि ये कहानियां बहुत कुछ मेरा प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें जो कहानी मैंने सबसे पहले लिखी वह 'आश्रिता' है और उसका रचना-काल १९३७ है। सबसे अन्त में लिखी गई कहानी 'ठेका' है जो सम्भवतः सन् '५६ में लिखी गई है। शेष कहानियां उसके बीच की हैं। सन् '५६ के बाद मैंने दो-चार कहानियां ही लिखी होंगी। इस दृष्टि से मैं समझता हूं कि लगभग बीस वर्ष के मेरे साहित्यिक जीवन की ये कहानियां दर्पण हैं। इससे अधिक कहने को न कुछ है, न आवश्यकता ही है।

अन्त में इन कहानियों की रचना के पीछे जो प्रेरक शक्तियां रही हैं उन्हें मैं अपना विनम्र और मूक प्रणाम निवेदन करता हूं।

रक्षा-बन्धन
१८ अगस्त, १९५९

—विष्णु प्रभाकर

कथा-क्रम

धरती अब भी घूम रही है

इस कहानी की प्रेरणा मुझे अचानक ही नहीं हुई। हमारे सामाजिक जीवन में जो भ्रष्टाचार घर कर गया है, उसके सम्बन्ध में अनेक घटनाओं से मुझे परिचित होने का अवसर मिला है, और उनका जो प्रभाव मुझपर पड़ा, उन्हीं का सामूहिक रूप यह कहानी है। बच्चों को पास से देखने और उनका अध्ययन करने का मुझे बहुत अवसर मिला है। उनकी संवेदनशीलता और उनके निरीक्षण करने की शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं। वे जो कुछ कह और कर जाते हैं, उसपर सहसा विश्वास नहीं होता। इस कहानी में उसी अविश्वसनीय सत्य के दर्शन कराए गए हैं। मैंने लगभग दो सौ कहानियां लिखी हैं, लेकिन मेरा विश्वास है कि यह कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय हुई है और इसकी सारे देश में और विदेशों में भी चर्चा हुई है।

◈

आयु नीना की दस वर्ष की भी नहीं थी लेकिन बुद्धि काफी प्रौढ़ हो गई थी। जैसाकि अक्सर मातृहीन बालिकाओं के साथ होता है, बुज़ुर्गों ने उसके लिए आयु का बन्धन ढीला कर दिया था। इसलिए जब उसने सुना कि कुछ दूर पर सोया हुआ उसका छोटा भाई सुबक रहा है, तो वह चुपचाप उठी। एक क्षण भयातुर दृष्टि से चारों ओर देखा, फिर उसके पास आकर बैठ गई।

तब रात आधी बीत चुकी थी और चांद कभी का अस्त हो चुका था, फिर भी कुछ दूर पर सोते हुए उनके मौसा के परिवार के दूध-से धुले कपड़े अन्धकार की कालस में चमक रहे थे जैसे तमसावृत श्मशान में अग्नि के स्फुलिंग। वही चमक नीना के नन्हे-से दिल में कसक उठी। किसी तरह रुलाई रोककर उसने धीरे से पुकारा, 'कमल…ओ कमल…।'

कमल आठवें वर्ष में चल रहा था। उसके छोटे-से खटोले पर एक फटी-सी दरी बिछी थी। उसपर वह लेटा था गुड़मुड़, पैर उसने पेट से सटा रखे थे और मुंह को हाथों से ढक रखा था। रह-रहकर उसका पेट सिकुड़ता और

सुबकियां निकल जातीं। उसने बहिन की पुकार का कोई जवाब नहीं दिया। नीना भी इतनी सहमी हुई थी कि दूसरी बार पुकारने का साहस न बटोर पाई। चुपचाप कमर सहलाती रही, देखती रही। कई क्षण बीत गए तो उसे सीधा करके उसका मुंह अपने दोनों हाथों में ले लिया। तब उसकी आंखें डबडबा आईं। आंसू ढुलककर कमल के मुख पर जा गिरे। कमल कुनमुनाया, फिर आंखें बन्द किए-किए बोला, 'जीजी!'

नीना ने चौंककर कहा, 'तू जाग रहा था रे?'

'नींद नहीं आती···जीजी, पिताजी कब आएंगे? जीजी, पिताजी के पास चलो।'

'पिताजी···!'

'हां जीजी! पिताजी के पास चलो। आज मुझे मौसाजी ने मारा था। जीजी, गिलास तोड़ा तो प्रदीप ने और मारा हमें···जीजी, यहां से चलो।'

नीना ने अनुभव किया कि कमल अब रोया, अब रोया। वह विह्वल हो उठी। उसने अपना मुंह उसके मुंह पर रख दिया और दोनों हाथों से उसे अपने वक्ष में समेटकर वह 'शिशु-मां' वहीं लेट गई। बोली वह कुछ नहीं। बस, उस स्तब्ध वातावरण में उसे ज़ोर-ज़ोर से थपथपाती रही और वह सुबकता रहा, बोलता रहा, 'जीजी! आज मौसी ने हमें बासी रोटी दी। सारा हलुआ प्रदीप और रंजन को दे दिया और हमें बस खुरचन दी और जीजी, जब दोपहर को हम मौसाजी के कमरे में गए तो हमें घुड़ककर निकाल दिया। जीजी, वहां हमें क्यों नहीं जाने देते? जीजी, तुम स्कूल से जल्दी आ जाया करो। जीजी, पिताजी को जेल में क्यों बन्द कर दिया? वहां पिताजी को रोटी कौन खिलाता है? हम वहां क्यों नहीं रहते? प्रदीप कहता था, तेरे पिताजी चोर हैं।···'

तब एकबारगी अपने को धोखा देती हुई नीना ज़ोर से बोल उठी, 'प्रदीप झूठा है।'

और कहकर अपनी ही आवाज़ पर वह भय से थर-थर कांप गई। उसने कमल को ज़ोर से भींच लिया। कमल को लगा जैसे जीजी बड़े ज़ोर से हिल रही है, हिलती जा रही है, हिलती चली जा रही है। हालन आ गया क्या? उसने घबराकर कहा, 'जीजी, जीजी, क्या है? तुम्हें बुखार आ गया है?'

'चुप, चुप। मौसी आ रही है।'

सचमुच कोई उठकर जल्दी-जल्दी उनके पास आया और कड़ककर पूछा, 'क्या है, क्या है नीना, कमल क्या है रे ?···ओहो ! भाई से लाड़ लड़ाया जा रहा है ! मैं कहती हूं नीना ! तू यहां क्यों आई ? अरी बोलती क्यों नहीं ?··· ओहो, बेड़े बेचारे गहरी नींद में सोए हैं। अभी तो बड़ी गुटर-गुटर मेरी शिकायत हो रही थी। जैसे मैं जानती ही नहीं···हाय रे मेरी किस्मत !··· ओ बहिन ! तू खुद तो मर गई, पर मुझे इस नरक में छोड़ गई···'

तभी मौसा हड़बड़ाकर उठ बैठे, पूछा, 'क्या बात है ? क्या हुआ ?'

'हुआ मेरा सिर। दोनों भागने की सलाह कर रहे हैं।'

'कौन भागने की सलाह कर रहा है ? नीना-कमल ? अरे, कुछ लिया तो नहीं ? अलमारी की चाबी तो है ? रात ही तो पांच सौ रुपये लाकर रखे हैं। अरे, तुम बोलतीं क्यों नहीं ? क्यों री नीना ! कहां है रुपया ?'

बोलते-बोलते मौसा उठकर वहां आ गए, जहां दोनों बच्चे एक-दूसरे में सिमटे, सकपकाए, कबूतर की तरह आंखें बन्द किए पड़े थे। मौसी ने तुनककर कहा, 'क्या पता क्या-क्या निकालकर, वह तो मेरी आंख खुल गई।'

और फिर झपटकर नीना को उठाते हुए कहा, 'चल अपनी खाट पर ! खबरदार जो पास सोए ! बाप तो आराम से जेल में जा बैठा, मुसीबत डाल गया मुझपर। न लाती तो दुनिया मुंह पर थूकती, बहिन के बच्चे थे। शहर की शहर में आंखों में लिहाज़ न आई। लेकिन कहनेवाले यह नहीं देखते कि हमारे घर में क्या सोने-चांदी की खान है ? क्या खर्च नहीं होता ? पढ़ाई कितनी महंगी हो गई है और फिर बच्चों की खूराक बड़ों से ज़्यादा ही है।'

रुपये नहीं निकाले, इस बात से मौसा को बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने खाट पर बैठते हुए कहा, 'मैं कहता हूं तुम तो···'

'अब चुप रहो। भले ही चचेरी बहिन हो, हैं तो बहिन के बच्चे।'

'हां, बहिन के बच्चे हैं तभी तो बहनोई साहब को रिश्वत लेने की सूझी और रिश्वत भी क्या थी, बीस रुपये की। वह भी लेनी नहीं आई। वहीं पकड़े गए। हूं, मैं रात पांच सौ लाया हूं। कोई कह दे, साबित कर दे।'

'इतनी बुद्धि होती तो क्या अब तक तीसरे दर्जे का क्लर्क बना रहता !'

'और मज़ा यह कि जब मैंने कहा कि तीन सौ, चार सौ रुपये का प्रबन्ध कर

दे, तुझे छुड़ाने का ज़िम्मा मेरा, तो सत्यवादी बन गए—मैं रिश्वत नहीं दूंगा। नहीं दूंगा तो ली क्यों थी ? अरे लेते हो तो दो भी। मैं तो···'

मौसी ने सहसा धीमे पड़ते हुए कहा, 'चुप भी करो, रात का वक्त है। आवाज़ बहुत दूर तक जाती है···।'

काफी देर बड़बड़ाने के बाद जब वे फिर सो गए, तो दोनों बालक तब भी जागते पड़े थे। आंखों की नींद आंसू बनकर उनके गालों पर जमती जा रही थी। और उसके धुंधले परदे पर बहुत-से चित्र अनायास ही उभरते आ रहे थे। एक चित्र मौसी का था जो उन्हें रोते-रोते घर लाई थी और वह प्रेम दर्शाया था कि वे भी रो-रोकर पागल हो गए थे। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए, प्यार घटता गया और दया बढ़ती गई। दया ऊंच-नीच और दम्भ की जननी है। उसने उन्हें आज पशु से भी तिरस्कृत बना दिया···

एक चित्र मौसा का था जो तीसरे-चौथे बहुत-से नोट लेकर आते और उन्हें लक्ष्य करके कहते, 'मैं कहता हूं कि उसने रिश्वत ली तो दी क्यों नहीं ? अरे तीन सौ देने पड़ते तो पांच सौ बटोरने का मार्ग भी तो खुलता···'

एक चित्र पिता का था। पिता जो प्यार करता था, पिता जिसने रिश्वत ली थी, पिता जिसे जेल में बन्द हुए दो महीने बीत चुके थे और अभी सात महीने शेष थे···

नीना ने सहस दोनों हाथों से अपना मुंह भींच लिया। उसकी सुबकी निकलनेवाली थी। उसने मन ही मन विह्वल-विकल होकर कहा, 'पिताजी ! अब नहीं सहा जाता, अब नहीं सहा जाता ! मौसा तुम्हारे कमल को पीटते हैं। पिताजी, तुम आ जाओ। अब हम उस स्कूल में नहीं पढ़ेंगे। अब हम बढ़िया कपड़े नहीं पहनेंगे। पिताजी, तुमने रिश्वत ली थी तो देते क्यों नहीं···क्यों··· क्यों···'

इस प्रकार सोचते-सोचते उसकी बन्द आंखों के अन्धकार में पिता की मूर्ति और भी विशाल हो उठी···एक अधेड़ व्यक्ति की मूर्ति, जिसकी आंखों में प्यार था, जिसकी वाणी में मिठास थी, जिसने दोनों बच्चों को नये स्कूल में भर्ती करवा रखा था। जहां उन्हें कोई मारता-झिड़कता नहीं था, जहां नाश्ता मिलता था, जहां वे तस्वीरें काटते थे, खिलौने बनाते थे···

और घर में पिता उनके लिए खाना बनाता था, अच्छी-अच्छी किताबें लाता

था, फल लाता था। उनकी मां के मरने पर उसने दूसरी शादी तक नहीं की थी···

नीना ने ये सब बातें पड़ोसियों के मुंह सुनीं। वे सब उसके पिता की बड़ी तारीफ करते। उसने अपने कानों से पिता को यह कहते सुना था कि रिश्वत लेना पाप है। लेकिन फिर उन्होंने रिश्वत ली···क्यों ली··आखिर क्यों···?

पड़ोसिन कहती, 'उसका खर्च बहुत था, और आमदनी कम। वह बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाना चाहता था, और तुम जानो अच्छी शिक्षा बहुत महंगी है···'

महंगी···महंगी थी तो उसने रिश्वत ली। महंगी होना क्या होता है··· और अब पिता कैसे छूटेंगे ? मौसा कहते थे 'जज को रिश्वत देते तो छूट जाते। एक जज ने तीन हज़ार लेकर एक डाकू को छोड़ दिया था। एक आदमी जिसने एक औरत को मार डाला था, उसे भी जज ने छोड़ दिया था। पांच हज़ार लिए थे···' पांच हज़ार कितने होते हैं ? सौ···हज़ार···दस···हज़ार लाख···ये कितने होते हैं···

मौसा कहते थे, 'रिश्वत और तरह की भी होती है। एक प्रोफेसर ने एक लड़की को एम० ए० में अव्वल कर दिया था क्योंकि वह खूबसूरत थी···'

नीना ने सहसा दृष्टि उठाकर आसमान में देखा। तारे जगमगा रहे थे और आकाश-गंगा का स्रोत धवल ज्योत्स्ना में लिपटा पड़ा था। उसने सोचा, यह सब कितना सुन्दर है ! क्या यहां भी रिश्वत चलती है ?

उसकी सुबकियां अब बिलकुल बन्द हो चुकी थीं और वह बड़ी गम्भीरता से सुनी-सुनाई बातों को याद कर रही थी, पर समझ में उसकी कुछ नहीं आ रहा था···खूबसूरत होना भी क्या रिश्वत है ? मौसा कहते थे कि गंजे हाकिम के पास खूबसूरत लड़की भेज दो और कुछ भी करवा लो···खूबसूरत लड़की और रुपया, रुपया और खूबसूरत लड़की—इन्हें लेकर जज और हाकिम काम क्यों कर देते हैं ? क्यों···क्यों···और खूबसूरत लड़की का वे क्या करते हैं? काम करवाते होंगे, पर काम तो सभी करते हैं···फिर खूबसूरत लड़की की क्या ?··· और उसके मौसा बहुत-से रुपये लाते हैं, पर लड़की कभी नहीं लाते···

उसकी समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन इसी उधेड़-बुन में रात न जाने

कहां चली गई, यह जाना न जा सका। एकाएक मौसी की पुकार ने उसकी तन्द्रा को तोड़ दिया। हड़बड़ाकर आंखें खोलीं तो मौसी कह रही थी, 'नीना, ओ नीना ! अरी उठेगी नहीं ? पांच बजे हैं।'

पांच···! अभी तो अहरुआ तीन की आवाज लगा रहा था और आकाश-गंगा का मार्ग कैसा चमचम कर रहा था ! इसी रास्ते तो स्वर्ग जाते हैं।

मौसी फिर चीखी, 'अरी सुना नहीं नीना ? कब से पुकार रही हूं। दोनों भाई-बहिन कुम्भकर्ण से बाज़ी लगाकर सोते हैं। चल जल्दी। चौका-बासन कर। मैं आती हूं···'

नीना ने अब अंगड़ाई लेने का नाट्य किया। फिर कुनकुनाती हुई उठी, 'जा रही हूं मौसी।'

ज़ीने तक जाकर न जाने उसे क्या याद आया, वह कमल के पास गई और बड़े प्यार ये कान से मुंह लगाकर उसे पुकारा। फिर उत्तर की प्रतीक्षा न करके उसे कौली में समेटकर नीचे लिए चली गई।

और जब दो घंटे बाद मौसी नीचे उतरी तो स्तब्ध रह जाना पड़ा। रसोईघर जैसे दूध में धोया गया हो। लकदक-लकदक, मैल की कहीं छाया तक नहीं। बर्तन चांदी-से चमचमा रहे थे। बार-बार अविश्वास से आंखें मलकर ठगी-सी मौसी बोली, 'आज क्या बात है नीना ?'

'कुछ नहीं मौसी।' नीना ने सकपकाकर उत्तर दिया।

'कुछ नहीं कैसे ? ऐसा काम क्या तू रोज़ करती है ?'

कमल ने एकदम कहा, 'मौसी ! आज पिताजी आवेंगे।'

'पिताजी...!'

'हां, जीजी कहती थी···।'

मौसी ने अविश्वास और आशंका से ऐसे देखा कि कमल सहमकर पीछे हट गया। कई क्षण उस स्तब्ध वातावरण में वे प्रस्तर-प्रतिमा बने रहे, फिर जैसे जागकर मौसी बोली, 'तो यह बात है ! बाप के स्वागत के लिए रसोईघर सजाया गया है !'

फिर एकबारगी बड़े ज़ोर से हंसी; बोली, 'पर रानीजी, अभी तो पूरे सात महीने बाकी हैं, सात महीने। वाह रे, बाप के लिए दिल में कितना दर्द है ! इसका पासंग भी हमारे लिए होता तो···'

नीना की काया एकाएक पीली पड़ गई। आग्नेय नेत्रों से कमल की ओर देखती हुई वह वहां से चली गई। उस दृष्टि से कमल सहम गया पर उसे अपने अपराध का पता तब लगा जब यह हो चुका था। स्कूल जाते समय रास्ते में नीना ने इस अपराध के लिए कमल को खूब डांटा। इतना डांटा कि वह रो पड़ा। रो पड़ा तो उसे छाती से लगाकर खुद भी रोने लगी।

इसी समय वहां से बहुत दूर एक सुसज्जित भवन में मुक्त अट्टहास गूंज रहा था। छोटे जज आज विशेष प्रसन्न थे। उनकी छोटी पुत्री मनमोहिनी को कमीशन ने सांस्कृतिक विभाग में डिपुटी डायरेक्टर के पद के लिए चुन लिया था। मित्र बधाई देने आए हुए थे। उसी हर्ष का यह अट्टहास था। यद्यपि बाकायदा चाय-पार्टी का कोई प्रबन्ध नहीं था, तो भी मेज़ पर अच्छी भीड़भाड़ थी। अंग्रेज़ लोग चाय पीते समय बोलना पसन्द नहीं करते थे, पर भारतवासी क्या अब भी उनके गुलाम हैं ! वे लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। मनमोहिनी ने चाय बनाते हुए कहा, 'मुझे तो बिलकुल आशा नहीं थी, पर सचिव साहब की कृपा को क्या कहूं···!'

सचिव साहब बोले, 'मेरी कृपा ! आपको, कोई 'न' तो कर दे? आपकी प्रतिभा···'

डायरेक्टर कह उठे, 'हां', इनकी प्रतिभा ! सांस्कृतिक विभाग तो है ही नारी की प्रतिभा का क्षेत्र।'

सचिव साहब के नेत्र जैसे विस्फारित हो आए, प्याले को ठक् से मेज़ पर रखते हुए उन्होंने कहा, 'क्या बात कही है आपने ! संस्कृति और नारी दोनों एक ही हैं। नाट्य, नृत्य, संगीत और कविता···।'

'और प्रचार?'

'अरे, नारी से अधिक प्रचार कर पाया है कोई !'

इसी समम बैरे ने आकर सलाम झुकाई। तार आया था। खोलने पर जाना—छोटे जज साहब के बड़े बेटे की नियुक्ति इन्कमटैक्स आफीसर के पद पर हो गई है। उसे मद्रास जाना होगा।

'क्या, क्या,'—कहते हुए सब तार पर झपटे। हर्ष और भी मुखर हो उठा। छोटे जज ने अट्टहास करते हुए अपनी पत्नी से कहा, 'देखो निर्मल !'

मुझे पूरा विश्वास था, शर्मा मेरी बात नहीं टाल सकता। और मेरी बात भी क्या ! असल में वह तुम्हारा मुरीद है। कहता था औरत···'

बात काटकर सचिव साहब बोले, 'जी नहीं, यह न आप हैं और न श्रीमती निर्मल। यह तो आपकी कौटुम्बिक प्रतिभा है।'

इसपर सबने स्वीकृतिसूचक हर्ष-ध्वनि की। छोटे न्यायमूर्ति इसका प्रतिवाद कर पाते कि बैरे ने आकर फिर सलाम किया। विस्मित-से डायरेक्टर बोले, 'इस बार किसकी नियुक्ति होनेवाली है ?'

बैरे ने कहा, 'दो बच्चे हुज़ूर से मिलने आए हैं।'

'हमसे ?' छोटे न्यायमूर्ति अचकचाकर बोले।

'जी।'

'किसके बच्चे हैं ?'

'जी, मालूम नहीं। भाई-बहिन हैं। गरीब जान पड़ते हैं।'

'अरे तो बेवकूफ ! कुछ दे-दिवाकर लौटा दिया होता।'

'बहुत कोशिश की, पर वे कुछ मांगते ही नहीं। बस, आपसे मिलना मांगते हैं।'

छोटे न्यायमूर्ति तेज़ी से उठे। मुख उनका विकृत हो आया, पर न जाने क्या सोचकर वे फिर बैठ गए। कहा, 'आज खुशी का दिन है। यहीं ले आ।'

दो क्षण बाद, बुरी तरह सहमे-सकपकाए जिन दो बच्चों ने वहां प्रवेश किया वे नीना और कमल थे। आंसुओं के दाग अभी गालों पर शेष थे। दृष्टि से भय झरा पड़ता था। एकसाथ सबने उनको देखा जैसे मदिरा के प्याले में मक्खी पड़ गई हो। छोटे न्यायमूर्ति ने पूछा, 'कहां से आए हो ?'

'जी···जी···' नीना ने कहना चाहा पर मुंह से शब्द नहीं निकले और बाव-जूद सबके आश्वासन के वे कई क्षण हतप्रभ, विमूढ़, अपलक देखते ही रहे, बस देखते ही रहे। आखिर मनमोहिनी उठी। पास आकर बोली, 'कितने प्यारे, कितने सुन्दर बच्चे हैं···!'

इन शब्दों में न जाने क्या था। नीना को जैसे करंट छू गई। एकबारगी दृढ़ कण्ठ से बोल उठी, 'आपने हमारे पिताजी को जेल भेजा है। आप उन्हें छोड़ दें···।'

कमल ने उसी दृढ़ता से कहा, 'हमारे पास पचास रुपये हैं। आपने तीन

हज़ार लेकर एक डाकू को छोड़ा है…।'

नीना बोली, 'लेकिन हमारे पिताजी डाकू नहीं हैं। महंगाई बढ़ गई थी। उन्होंने बस बीस रुपये की रिश्वत ली थी।'

कमल ने कहा, 'रुपये थोड़े हों तो…'

नीना बोली, 'तो मैं एक-दो दिन आपके पास रह सकती हूं।'

कमल ने कहा, 'मेरी जीजी खूबसूरत है और आप खूबसूरत लड़कियों को लेकर काम कर देते हैं……'

रटे हुए पार्ट की तरह एक के बाद एक जब वे दोनों इस प्रकार बोल रहे थे तो न जाने हमारे कथाकार को क्या हुआ; वह वहां से भाग खड़ा हुआ। उसे ऐसा लगा जैसे धरती सूर्य की चुम्बक शक्ति से अलग हो रही है। लेकिन ऐसा होता तो क्या हम 'पुनश्च' लिखने को बाकी रहते? धरती अब भी उसी तरह घूम रही है।

अगम-अथाह

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से कुछ पूर्व से लेकर कुछ बाद तक जो नरमेध यज्ञ इस देश में आ उसको मैंने बहुत पास से देखा है। उसीकी एक झलक इस कहानी में है। अपनी ओर से मैंने इसमें बहुत कम कहा है।

◇

गाड़ी ने सीटी दी तो रमेश ने राहत की सांस खींची। तभी सहसा एक वृद्ध व्यक्ति ने खिड़की के पास आकर कहा, 'मुझे अन्दर आ जाने दीजिए!'

जैसे उन्होंने ततैयों के छत्ते में हाथ डाल दिया। एकसाथ अनेक क्रुद्ध आंखें उस ओर उठीं। सौभाग्य से यह सतयुग नहीं था; नहीं तो विश्वामित्र या दुर्वासा की तरह वे उस वृद्ध को वहीं भस्म कर देते। हुआ यह कि रमेश के मित्र ने चुपचाप दरवाज़ा खोल दिया। वृद्ध हांफते-हांफते अन्दर घुस आए—घुस आए क्योंकि अनेक नवयुवकों ने उनको बाहर फेंक देने की पूरी-पूरी कोशिश की थी। आ गए तो देखा—उनकी देह कांपती है, चेहरा झुर्रियों से भरा हुआ है और आंखों में ऐसा कुछ है कि न देखते बनता है, न दृष्टि हटाने को जी करता है। आंखें ऐसे बन्द होती हैं कि हरहराकर फिर खुल जाती हैं। फिर तो हृदय में धड़कन ही नहीं होती; ऐसा लगता है जैसे कोई उसे आरी से चीरने लगा है।

गाड़ी धीरे-धीरे गति पा रही थी और दूसरे लोगों का ध्यान उस वृद्ध की ओर बढ़ चला था। वे भी जो किसी गहरे वाद-विवाद में व्यस्त थे, धीरे-धीरे फुसफुसाते और फिर चुप होकर उन्हें देखने लगते। वे दयनीय और करुण, पाखाने के पास खड़े थे। सामने की बर्थ पर जो एक अधेड़ सज्जन बैठे थे, वे एकटक वृद्ध की ओर देख रहे थे। सहसा वे पीछे को खिसके, बोले, 'आप यहां बैठ जाएं!'

वृद्ध चौंके, 'जी !'

'आप यहां बैठ जाइए !'

वृद्ध ने ऐसे देखा जैसे स्वयं पानी-पानी हो चले हों; फिर बैठते-बैठते कहा, 'भगवान तुम्हें सुखी रखे भइया !'

अधेड़ व्यक्ति ने फिर पूछा, 'आप कहां जा रहे हैं ?'

'कहां जा रहा हूं ?' जैसे किसीने वृद्ध के अन्तर्मन पर चोट की थी। एक क्षण ऊपर देखा, कहा, 'क्या बताऊं भइया ! जहां भी भाग्य ले जाएगा, जाऊंगा।' कहते-कहते झुर्रियों में एक हल्का-सा कंपन हुआ। होंठ हिले, पलकें मुंद-सी गईं। खुलीं तो उनमें पानी नहीं था, हल्की चिपचिपाहट थी। उस व्यक्ति के पास एक युवक बैठा था। वह बोल उठा, 'आप दिल्ली रहते हैं ?'

'हां बेटा !'

'कोई दुःख है आपको ?'

तब तक एक और अधेड़ व्यक्ति का ध्यान उधर खिच गया। वे बोले, 'शायद आपका कोई रिश्तेदार खो गया है ? आजकल गुमशुदगी की घटनाएं बहुत हो रही हैं।'

'जी, शायद वह आपका बेटा है ?' तीसरे आदमी ने कहा।

रमेश ने एक बार उन आदमियों को देखा, फिर उस वृद्ध को। फिर उन आदमियों को देखा और फिर उस वृद्ध को कि वृद्ध बोले, 'हां बेटा, तुम ठीक कहते हो। मेरा बेटा ही खो गया है।'

'मैंने कहा था न,' अधेड़ सज्जन बोले, 'वह तो आपकी सूरत ही कह रही है। बेटे का दर्द अलग होता है।'

'क्यों जी, दिल्ली में था ?'

'जी हां !'

'कित्ता बड़ा था जी ?'

'सोलह वर्ष का था।'

डिब्बे की एकमात्र स्त्री ने अपने बच्चे को गोद में अन्दर को खींचकर धोती का पल्ला उढ़ा दिया। ऊपर की बर्थ पर लेटे हुए महाराष्ट्रीय सज्जन ने अब नीचे झांका। शोर आप ही आप बुदबुदाहट में बदल चुका था। एक व्यक्ति ने पूछा, 'क्यों जी, कैसे चला गया था ?'

'जी स्कूल गया था।'

'और फिर लौटकर नहीं आया। मेरे एक दोस्त हैं, उनका लड़का भी स्कूल गया था, आज तक नहीं लौटा।'

सुनकर वृद्ध कुछ अस्पष्ट स्वर में बुदबुदाए, पर प्रश्नकर्ता ने फिर प्रश्न किया, 'कितने दिन हो गए जी ?'

'यही दो महीने से कुछ ज़्यादा।'

'दो महीने ? तब तो दिल्ली में बड़ी मार-काट मची हुई थी।'

वृद्ध ने गहरी सांस खींची, कहा, 'तभी की बात है। स्कूल में इम्तहान हो रहे थे। अचानक कुछ लोगों ने हमला कर दिया।'

'मुसलमानों ने किया होगा।' महाराष्ट्रीय सज्जन बोल उठे।

'जी नहीं।'

'तो ?'

'तो आप समझ लीजिए। उन लोगों ने एक जात के सभी लड़कों को मार डाला।'

'सबको ?'

'जी हां।'

अवाक्-अपलक यात्रियों ने एक-दूसरे को देखा। सबके मन भय और वेदना के धुएं से घुट रहे थे। एक व्यक्ति ने पूछा, 'कितने होंगे जी ?'

इसका जवाब दिया रमेश के मित्र ने, 'कितने थे, यह कभी कोई नहीं जान सकेगा और जानने का महत्त्व ही कितना है !'

'पर आपका बेटा क्या···?' ट्रंक पर बैठे हुए युवक ने सकुचाते हुए पूछा।

वृद्ध के नयन फिर चिपचिपा रहे थे। बोझिल वाणी में कहा, 'कहते हैं, वह डरकर कहीं भाग गया।'

'जी हां, हिन्दू हिन्दू को नहीं मार सकता।'

'अजी कुछ न पूछो, आजकल तो···!'

'आज की बात नहीं है। आज मुसलमान हैं कहां ?'

'हैं क्यों नहीं ?'

रमेश के मित्र हंस पड़े, 'मुसलमान अब हिन्दुस्तान में नहीं हैं मेरे दोस्त ! जो मुसलमाननुमा सूरतें दिखाई देती हैं, वे उनकी लाशें हैं, चलती-फिरती लाशें।'

और यह कहकर वे और भी ज़ोर से हंसे। वह हंसी डिब्बेवालों को बहुत बुरी लगी, जैसे कोई मरघट में हंस पड़ा हो। महाराष्ट्रीय सज्जन ने कहा, 'आप पाकिस्तान की बात नहीं सोचते ? वहां तो एक भी हिन्दू नहीं बचा है।'

'नहीं बचा है तो अच्छा है; तड़पना तो नहीं पड़ेगा।'

नीचे बैठे हुए अधेड़ व्यक्ति ने उधर ध्यान न देकर फिर पूछा, 'क्यों जी, कुछ अता-पता लगा ?'

'जी हां, सुना है वह कराची चला गया है। वहां से जो लोग बम्बई आए हैं, उनसे पता लगा है कि वह भी शायद बम्बई आ गया है, वहीं जा रहा हूं।'

रमेश के पीछे जो व्यक्ति बैठे थे, उन्होंने धीरे से कहा, 'बात समझ में नहीं आती। स्कूल से भागकर लड़का घर क्यों नहीं आया ? कराची क्यों गया और कैसे गया ?'

रमेश सबकी बातें सुन रहा था, परन्तु बोलता नहीं था, क्योंकि उसकी दृष्टि बार-बार वृद्ध सज्जन पर जा अटकती थी। वह सोचने लगता था—उस दिन सवेरे जब इनका बेटा स्कूल में परीक्षा देने गया होगा, तो क्या इन्होंने सोचा होगा कि वह अब नहीं लौटेगा ? उसकी मां ने प्यार से उसे दही और लड्डू खिलाया होगा। कहा होगा, 'बेटा, परचे अच्छे करना और देख, सीधा घर आना ! आजकल बुरे दिन हैं।' और फिर बेटा खिलता हुआ स्कूल गया होगा और फिर सन्ध्या को जब वह बेटे की राह देख रही होगी, तब उसने वह दर्दनाक खबर सुनी होगी। तब-तब···

रमेश कांपा। उसने गर्दन को झटका दिया। उसके नयन भर आए। उसने वृद्ध को देखा—वे उसी तरह कह रहे थे, 'उसे घूमने का बहुत शौक था। उमर भी चंचल थी। उसे वे लोग भगाकर ले गए।'

'आपने अखबारों में निकलवाया है ?'

'जी हां। अखबारों में भी निकलवाया है। रेडियो पर भी ऐलान हुआ है, पर आप जानते हैं, वहां हमारे अखबार नहीं जाते, न कोई रेडियो सुनता है।'

'जी हां। सब कुछ गड़बड़ ही गड़बड़ है।'

रमेश का मस्तिष्क घूम-फिरकर फिर वहीं आ गया। खबर लेनेवाले ने कहा होगा, स्कूल में कत्ले-आम मच गया। सब बच्चे मार डाले गए।—तब हतभागिनी-सी उसकी मां के हृदय से एक तेज़ चीख़ निकली होगी और अपने

बच्चे को देखने के लिए पागल-सी आतुर वह बाहर भागी होगी। किसी ने कहा होगा, ठहरो बीवी! वहां खतरा है। अभी इन्तज़ार करो।—और उसने इन्तज़ार किया होगा। शायद अब तक कर रही है। अभी भी वह अपने दरवाज़े से बाहर झांककर, उस चिरपरिचित मार्ग को देखती होगी, जिसपर उसका बेटा आता-जाता होगा।

रमेश के लिए सोचना असम्भव-सा हो गया। वह दिल्ली में रहता था। उसने उस घटना की चर्चा सुनी थी, पर उससे अधिक नहीं जितनी वह आज सुन रहा था। तभी सहसा उसके मित्र ने कहा, 'सामान उठा लो रमेश! हम यहीं उतरेंगे।'

गाड़ी धीमी पड़ने लगी और शोर बढ़ चला। रमेश ने ऊपर से होल्डाल उतार लिया। फिर उन वृद्ध को देखा—उस धकापेल में वे उसी तरह शून्य में ताकते हुए बैठे थे। वह नीचे उतर गया। उतर गया तो जैसे होश आया, परन्तु वृद्ध की झुर्रियां और चिपचिपाहट से पूर्ण दृष्टि वह नहीं भुला सका। वे उमड़-घुमड़कर विचारों का तूफान पैदा करती ही रहीं। कई दिन बाद जब लौटकर दिल्ली आना हुआ, तब भी कभी-कभी बिजली की तरह वह मूर्ति उसके नेत्रों में कौंध जाती थी। इन्हीं दिनों अचानक एक पुराने मित्र मिल गए। कई बार उनका निमन्त्रण आ चुका था। वास्तव में उनकी पत्नी का बड़ा आग्रह था। रमेश उन्हें भाभी कहता था। वे कार में बिठाकर उसे घर पर ले गईं। चाय का वक्त था, बिना पुकारे नौकर मेज़ पर सामान जुटा गया और भाभी चाय तैयार करने लगीं। मित्र किसी ज़माने में कालेज के प्रोफेसर थे। कांग्रेस-आन्दोलन में बहुत दिन जेल काटी। अब शरणार्थी-विभाग में कोई बड़ा-सा पद उन्हें मिला था; इसलिए यह स्वाभाविक था कि चर्चा 'सब रास्ते रोम को जाते हैं' वाली कहावत के अनुसार हर कहीं होकर शरणार्थियों की समस्या पर आ अटकती थी। बातों-बातों में रमेश उन वृद्ध की चर्चा कर बैठा। अचरज से मित्र ने मुस्कराकर कहा, 'मैं उन्हें जानता हूं।'

रमेश ने पूछा, 'क्या वे आपके पास आए थे?'

'कई बार आए हैं। उनको पूरा यकीन है कि उनका लड़का कहीं न कहीं ज़िन्दा है।'

'पर क्या यह सच हो सकता है?'

'असम्भव। वह उसी दिन मारा गया होगा।'

'पर वह तो हिन्दू था।'

मित्र मुस्कराए, 'मौत जाति नहीं पूछती। और वह तो सामूहिक वध था; बहुत मुमकिन है, हत्यारे उसे न पहचान सके हों।'

'शायद।'

'और नहीं तो वह कहां जाता?'

'पर उसकी लाश!'

बात काटकर मित्र ने कहा, 'ऐसे मौकों पर जो कुछ होता है वह क्या बताना होगा? कौन कह सकता है, कितनी लाशें उन्होंने जला या दबा नहीं दी होंगी? तब तो गिनती कम करने का प्रश्न होता है।'

भाभी ने प्याला ठक् से मेज़ पर रख दिया और करुणा से उद्वेलित होकर अंग्रेज़ी में कहा, 'आदमी कितना बर्बर हो गया है!'

मित्र हंसे, बोले, 'आदमी वास्तव में बर्बर ही है। कौन कह सकता है, मैं कब तुम्हारा गला नहीं घोंट दूंगा। कम से कम मुझे तो इसमें कुछ असंभव नहीं लगता। और फिर इधर जो कुछ हम देख चुके हैं, वह तो संभावना को प्रमाणित करनेवाला है। हां, कुछ लोग मानते हैं कि एक दिन मनुष्य शारीरिक बल की तरह बौद्धिक बल का परित्याग करके सम्मिलित जीवन को प्राप्त करेगा। पर जब तक बुद्धि है, बर्बरता से छूटने का कोई उपाय नहीं है।'

रमेश ने चाय का घूंट भरा और फिर कहा, 'भविष्य में क्या होगा, इसपर विचार करने से इतना लाभ नहीं है जितना वर्तमान पर। मैं कहता हूं, वे क्यों नहीं मान लेते कि उनका लड़का अब दुनिया में नहीं रहा। इस दुःख को स्वीकार किए बिना क्या उन्हें शान्ति मिलेगी?'

'दुःख तो यही है,' मित्र बोले, 'उन्होंने इस दुःख को स्वीकार नहीं किया है। विधि के इस दान का तिरस्कार ही उन्हें साल रहा है।'

भाभी ने पूछा, 'तुम इसे विधि का दान कहते हो?'

'कोई चिन्ता नहीं,' वे बोले, 'तुम इसे व्यक्ति का दान कह सकती हो।'

रमेश ने सिगरेट जलाई और दियासलाई को बुझाते हुए कहा, 'तो तुम उन्हें समझाते क्यों नहीं?'

'समझाना चाहता हूं,' मित्र ने धुएं के उठते हुए बादलों के उस पार ध्यान

से देखा, 'पर उनकी आंखें देखकर कलेजा मुंह को आने लगता है। कुछ कहने को मन नहीं करता। बुद्धि बहुतेरा ज़ोर लगाती है, पर उनकी दृष्टि—रमेश, मैं तुमसे क्या कहूं—सब विचारों को पाश-पाश कर देती है। तब मैं सोचता हूं, आज यदि मुझमें नारद की शक्ति होती तो अपने तपोबल से, राजा के बेटे की तरह, उनके बेटे की आत्मा को बुलाकर दिखाता कि जिसे वे अपना बेटा समझे थे, वह उनका दुश्मन था। तभी तो बुढ़ापे में तड़पाकर चला गया !'

रमेश ने उनका प्रतिवाद करना चाहा, पर तभी देखा कोई अन्दर चला आ रहा है, लेकिन यह देखकर कि साहब अकेले नहीं हैं वह ठिठक गया। न जाने क्या हुआ दूसरे ही क्षण रमेश चौंककर उठा, 'अरे, ये तो वही वृद्ध हैं !'

मित्र मुड़े, 'कौन ?' और फिर खड़े होकर कहा, 'आइए, चले आइए। ये मेरे मित्र हैं।

आज उनके वेश में इतना ही परिवर्तन था कि हजामत बढ़ गई थी और उसने उनके मुख की भयंकरता को और भी गहरा कर दिया था। वे बैठ गए तो मित्र ने कहा, 'चाय पिएंगे ?'

एक फीकी-सी मुस्कराहट झुर्रियों में उठी और वहीं खो भी गई, बोले, 'चाय पिऊंगा, पर पहले मेरी बात सुन लो। मुझे निश्चित रूप से पता लगा है कि किशोर मुलतान कैम्प में है।'

'जी, मुलतान ?' मित्र विस्मित-चकित बोल उठे।

'जी, हां, मुलतान कैम्प में। बम्बई में एक सज्जन मिल गए थे। वे सिन्ध से आए थे। मैंने उन्हें हुलिया बताया। ठीक उसी तरह का एक लड़का उन्होंने मुलतान कैम्प में देखा था। वही रंग, वही आंखें, वही कपड़े। नीला निकर, सफेद कमीज़, नीली धारी की जुराबें और काला जूता। माथे पर दाहिनी ओर चोट का निशान भी उन्होंने बताया। अंग्रेज़ी बोलना पसन्द करता है और शरारती है।'

रमेश ने देखा, कहते-कहते वृद्ध की आंखें ऐसे चमकीं जैसे घोर अंधकार में रह-रह कर जुगनू चमक उठता है। मित्र ने साहस करके पूछा, 'पर वह मुलतान कैसे जा सकता है ?"

उन्होंने दृढ़ता से कहा, 'वह मुझसे अक्सर मुलतान जाने की बात कहा करता था। सच तो यह है, उसे पंजाब बड़ा प्यारा था। जान पड़ता है, वह

जान बचाने के लिए स्कूल से भाग गया। स्टेशन पास था। कोई गाड़ी जाती होगी, उसीमें बैठकर चला गया।'

'हो सकता है।'

'जी हां, यही हुआ है।'

'तो फिर ?'

'तो आप कृपा करके मुलतान कैम्प के इन्चार्ज को लिख दें। ज़रा अच्छी तरह लिख दें। आपकी दया से उसका पता लग गया तो···'

आंसू न जाने कहां रुके थे। झुर्रियों में अटक-अटककर बहने लगे। रुंधे गले से उन्होंने अपनी बात जारी रखी, 'आपने मुझपर बहुत मेहरबानियां की हैं। मैं उन्हें नहीं भूल सकता। एक बार और कोशिश कर देखिए। उसकी मां को पूरा यकीन है कि वह मुलताम कैम्प में है।'

और फिर सदा की तरह जेब से एक चिट्ठी निकालकर उन्होंने कहा, 'उसकी मां ने यह चिट्ठी लिखी है। आप भी कैम्प इन्चार्ज़ को लिख दें कि वह उसे समझा दे कि बेटा, तुम्हारी मां तुम्हारी याद में तड़प रही है। तुम इसी वक्त चले आओ; नहीं तो हम दोनों मर जाएंगे।'

एक बार फिर कुर्ते की जेब में हाथ डाला। कई नोट निकाले और बोले, 'किशोर की मां ने कहा है, पैसों की चिन्ता न करें। जो कुछ है उसीका है।'

मित्र की अवस्था बड़ी विषम थी। वे एकटक अपने नीचे धरती को देख रहे थे, वह न हिलती थी, न डुलती थी। नोटों की बात सुनकर उन्होंने दृष्टि उठाई और कहा, 'इन्हें आप रखिए। पता लगने पर यदि ज़रूरत हुई तो मैं फिर मंगवा लूंगा। और देखिए, आप अपना ख्याल कीजिए। क्या हालत हो गई है ! आपको अब समझ लेना चाहिए···।'

बात काटकर उन्होंने कहा, 'मैं सब समझता हूं। न समझता तो क्या अब तक जीता रहता। पर किशोर की मां की बात अलबत्ता है। खाट से लग गई है। हर वक्त दरवाज़े पर आंखें गड़ाए बैठी रहती है। कोई वक्त-बेवक्त दरवाज़ा खटखटाता है तो चिल्लाकर कहती है—देखो तो कौन है ? शायद किशोर है !'

फिर जैसे वे कहीं खो गए; जैसे कण्ठ भावों के उन्मेष में जकड़ा गया। कई क्षण शून्य में ताका किए और सन्नाटा गहर-गहरकर सबके दिलों को कचो-

टता रहा। उन्होंने ही कहा, 'आप मेरी चिन्ता न करें। आप बहुत अच्छे हैं, बहुत अच्छे ! बस आप उन्हें लिख दें। बहुत-बहुत विनती करके लिख दें कि अपना काम है। समझें वे अपना ही बेटा ढूंढ़ रहे हैं।'

और अपनी डबडबाई आंखों को कोहनी से पोंछकर वे उठे, 'तो मैं जाऊं ? आप लिखेंगे ?'

'ज़रूर लिखूंगा और हो सका तो मैं आपके जाने का प्रबन्ध भी कर दूंगा।'

वे मुड़े। श्वास फूलने लगी, जैसे कोई सम्पदा मिली हो, कहा, 'सच ?'

'देखिए, कोशिश करूंगा। चाय पीजिए।'

रमेश एकटक उनके मुख को देख रहा था। उन झुर्रियों में शिशु की सरलता उमड़ रही थी और वे दयनीय तथा डरावनी आंखें एक मधुर प्रकाश से भर उठी थीं, जैसे वे किसी सुहावने स्पर्श का अनुभव कर रहे थे। उन्होंने कहा, 'पिऊंगा, एक दिन आप सब लोगों के साथ अपने घर बैठकर पिऊंगा। तब तक किशोर भी आ जाएगा। वह दिन अब दूर नहीं है। मैं जानता हूं, वह मुलतान कैम्प में है क्योंकि जब घर से आपके पास आने को चला था, तो मैंने रास्ते में एक मुर्दा देखा था।'

अन्तिम बात उन्होंने बड़े धीरे से कही और कहकर शिशु की तरह हंस पड़े। रमेश से देखा नहीं गया। उसने मुंह फेर लिया और वे जिस तरह आए थे उसी तरह चले गए। चाय ठण्डी हो गई थी और साथ ही उन दोनों के दिल भी। भाभी भी अन्दर चली गई थीं। कुछ देर उन्हीं से बातें करके रमेश लौट आया। मन उसका और भी अशान्त हो गया। उसने सोचा—यह कैसा अप्राकृतिक जीवन है ! इस छलना का अन्त होना ही चाहिए, होना ही चाहिए।

बुद्धि जब सोचती है तो उसके पास रास्तों की कमी नहीं रहती। रमेश को आखिर एक राह दिखाई दी। एक दिन बड़े तड़के उठकर उसने वृद्ध के घर जाने का निश्चय कर डाला। जो कुछ हुआ, वह बुरा था; पर उस बुरेपन को सम्पदा की तरह सहेजकर रखना तो निरा पागलपन ही नहीं, देश के साथ विश्वासघात भी है। उन्हें साफ-साफ कहना होगा—तुम्हारा बेटा मर चुका है और केवल तुम्हारा बेटा ही नहीं मरा है, असंख्य मां-बापों ने अपनी गोदी के लाल गंवाकर आज़ादी पाई है। मां के बन्धन काटने के लिए सन्तान को प्राण होमने ही पड़ते हैं। मौत आज़ादी का पारितोषिक है। इसके लिए

तुम्हें गर्वित होना चाहिए।

बहुत ढूंढ़ने पर उसे घर मिला। एक पंचायती मकान में उनका कमरा था। कुछ कम्पन-सा हुआ। वैसे सर्दी के दिन थे। ऊपर तक कपड़े लाद लेने पर भी वायु त्वचा का संसर्ग प्राप्त कर लेती थी ; इसलिए मफलर को ज़रा ठीक करके दरवाज़े पर दस्तक दी, तो पता लगा वह खुला पड़ा है ; गिरते-गिरते बचा। तनिक-सा खोलकर झांकना चाहा कि तभी सुना, कोई बोल रहा है। ठिठककर सुनने लगा। स्वर नारी का था। लगा, थका होकर भी उसमें प्रार्थना का आवेग है। सुना, 'अच्छा अब उठो भी। क्या दफ्तर नहीं जाओगे ?'

जवाब मिला, 'नहीं।'

'क्यों ?'

'क्योंकि यह सब झूठ है!'

'सुनो तो।'

'कुछ नहीं किशोर की मां! अब कब तक हम इस भुलावे में पड़े रहेंगे। कब तक झूठ-मूठ मन को बहलाते रहेंगे। किशोर अब नहीं लौटेगा। वह वहां पहुंच चुका है जहां से कोई नहीं लौटता और जहां···'

आगे के शब्द कण्ठावरोध में खो गए। रुदन से फूटी हुई उसांस ही रमेश सुन सका, परन्तु नारी का स्वर और भी दृढ़ था। उसने कहा, 'तुम तो यूं ही दु:खी होते हो जी ! भगवान् की माया कौन जानता है ! हमारे गांव के गोविंद पंडित का बेटा सात साल में लौटा था। और सुनो तो, मैंने आज सवेरे एक सपना देखा है कि किशोर तुम्हारे पीछे-पीछे दरवाज़ा खोलकर अन्दर आया है। उसने नीली निकर, सफेद कमीज़, नीली धारी की जुराबें और काला जूता पहना है। कह रहा है, मां, मैंने आज का परचा बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छा !—और तुम जानते हो, सवेरे का सपना हमेशा सच्चा होता है। लो उठो, मैंने चाय बना ली है। पीकर बड़े बाबू के पास हो आओ। देर हो गई तो वे दफ्तर चले जाएंगे। उठो। उठो भी !'

उसके बाद क्या हुआ, यह जाने बिना रमेश वहां से सीधा अपने घर लौट आया। उसे लगा, उस वृद्धि दम्पती का स्वप्न भंग करने के लिए उसे जिस हिम्मत की ज़रूरत थी, उसे प्राप्त करने के लिए अभी उसे बहुत परिश्रम करना होगा।

रहमान का बेटा

पंजाब के एक छोटे-से कस्बे में सरकारी नौकरी करते हुए मैंने वहां के निम्न वर्ग को काफी पास से देखा। इधर-उधर उनमें जो चेतना जाग्रत् हो रही थी उनका अनुभव किया और एक दिन यह कहानी लिख बैठा। एक ही बैठक में मैंने बहुत कम कहानियां लिखी हैं, लेकिन इस कहानी को लिखते समय न मुझको कुछ सोचना पड़ा और न मुझे कल्पना ही करनी पड़ी। मेरी इस कहानी की भी बहुत चर्चा हुई है।

◈

क्रोध और वेदना के कारण वाणी में गहरी तलखी आ गई थी और बात-बात में वह चिनचिना उठता था। यदि उस समय गोपी न आ जाता तो सम्भव था कि वह किसी बच्चे को पीट देता और इस प्रकार अपने दिल का गुबार निकालता। गोपी ने आकर दूर से ही पुकारा, 'साहब सलाम भाई रहमान! कहो क्या बना रहे हो?"

रहमान के मस्तिष्क का पारा सहसा कई डिग्री नीचे आ गया, यद्यपि क्रोध की मात्रा अभी भी काफी थी। बोला, 'आओ गोपी काका। साहब सलाम।'

'बड़े तेज़ हो रहे हो, क्या बात है?'

गोपी बैठ गया। रहमान ने उसके सामने बीड़ी निकालकर रखी और फिर सुलगाकर बोला, 'क्या बात होगी काका! आजकल के छोकरों का दिमाग बिगड़ गया है। जाने कैसी हवा चल पड़ी है! मां-बाप को कुछ समझते ही नहीं।'

गोपी ने बीड़ी का लम्बा कश खींचा और मुस्कराकर कहा, 'रहमान, बात हमेशा ही ऐसी रही है। मुझे तो अपनी याद है। बाबा सिर पटककर रह गए, मगर मैं चटशाला में जाकर ही नहीं दिया। अब बुढ़ापे में वे दिन याद आते हैं। सोचता हूं, दो अच्छर पेट में पड़ जाते तो...'

बीच में बात काटकर रहमान ने तेज़ी कहा, 'तो काका, नशा चढ़ जाता। अच्छरों में नाज से ज्यादा नशा होवे है। यह दो अच्छर का नशा ही तो है जो सलीम को उड़ाए लिए जाए है। कहवे है, इस बस्ती में मेरा जी नहीं लगे। सब गन्दे रहते हैं। बात करने की तमीज़ नहीं। चोरी करने से नहीं चूके···।'

गोपी चौंककर बोला, 'सलीम ने कहा ऐसे ?'

'जी हां, सलीम ने कहा ऐसे और कहा, 'हम इन्सान नहीं हैं, हैवान हैं। जैसे नाली में कीड़े बिलबिलावे हैं न, उसी तरह की हमारी ज़िन्दगी है···।'

कहते-कहते रहमान की आंखें चढ़ गईं। बदन कांपने लगा। हुक्के को, जिसे उसने अभी तक छुआ भी नहीं था, इतने ज़ोर से पैर से सरकाया कि चिलम नीचे गिर पड़ी और आग बिखरकर चारों ओर फैल गई। तेज़ी से पुकारा, 'करीमन ! ओ हरामज़ादी करीमन ! कहां मर गई जाकर ? ले जा इस हुक्के को। साला, आज हमें गुण्डा कहवे है···।'

गोपी ने रहमान की तेज़ी देखकर कहा, 'उसका बाप स्कूल में चपरासी था न ···।'

'जी हां, वही असर तो खराब करे है। पढ़ा नहीं था तो क्या; हर वक्त पढ़े-लिखों के बीच रहवे था। मगर साले ने किया क्या ? भरी जवानी में हाथ फैलाकर मर गया। बीवी को कहीं का भी नहीं छोड़ा। न जाने किसके पल्ले पड़ती, वह तो उसकी मां ने मेरे आगे धरना दे दिया। वह दिन और आज का दिन; सिर पर रखा है। कह दे कोई सलीम रहमान की औलाद नहीं है। पर वह बात है काका···।'

आगे जैसे रहमान की आंख में कहीं से आकर कुणक पड़ गई। ज़ोर-ज़ोर से मलने लगा। उसी क्षण शून्य में ताकते-ताकते गोपी ने कहा, 'सलीम की मां बड़ी नेक दिल औरत है।'

रहमान एकदम बोला, 'काका, फरिश्ता है। ऐसी नेकदिल औरत कहां देखने को मिले है आजकल ! क्या मजाल जो कभी पहले शौहर का नाम लिया हो ! ऐसी जी-जान से खिदमत करे है कि बस सिर नहीं उठता। और काका, उसीका नतीजा है। तुमसे कुछ छुपा है ? कभी इधर-उधर देखा है मुझे ?'

गोपी ने तत्परता से कहा, 'कभी नहीं रहमान, मुंह देखे को नहीं; ईमान की बात है। पांच पंचों में कहने को तैयार हूं।

'और रही चोरी की बात ! किसीके घर डाका मारने कौन जावे है ! यूं खेत में से घास-पात तुम भी लावो ही हो काका ।'

गोपी बोला, 'हां, लावूं हूं । इसमें लुकाव की क्या बात है ! और लावें क्यों न ? हम क्या इतने से भी गए ? बाबू लोग रोज़ जेब भरकर घर लौटें । सच कहूं, रहमान ! तनखा बांटते वक्त अंगूठा पहले लगवा लेवें और पैसों के वक्त किसी गरीब को ऐसी दुत्कार देवें कि बिचारा मुंह ताकता रह जावे । इस सत्यानासी राज में कम अंधेर नहीं है । पर बेमाता ने हमारी सरकार की किस्मत में न जाने क्या लिख दिया है, दिन-रात चौगुनी तरक्की होवे है । गांधी बाबा की कुछ भी पेश नहीं आवे ।'

रहमान ने सारी बातें बिना सुने उसी तेज़ी से कहा, 'बाबू क्यों ? वे जो अफसर होते हैं, साब बहादर, वे क्या कम हैं ? किसी चीज़ पर पैसा नहीं डाले हैं । और काका ! यह कल का छोकरा सलीम हमें गुण्डा बतावे है । गुण्डे साले तो वे हैं । सच काका ! कलब में सिवाय बदमाशी के वे करे क्या हैं ! शराब वे पिएं, जुआ वे खेलें और···'

'और क्या ? हमारे साब के पास आए दिन कलब का चपरासी आवे है । कभी सौ, कभी डेढ़ सौ, सदा हारे ही है, पर रहमान, उसकी मेम बड़ी तकदीर की सिकन्दर है । जब जावे, तब सौ सवा-सौ खींच लावे है ।

'मेम साब ! ···काका तुम क्या जानो ? उसकी बात और है । जितने ये साब बहादर हैं; और साब क्यों, बड़े-बड़े वकील, बलिस्टर, लाला सभी आजकल कलब जावे हैं । मुसलमान को शराब पीना हराम है; पर वहां बैठकर विस्की, जिन, पोरट, सेरी सब चढ़ा जावे है । औरतें ऐसी गिर गई हैं कि पराए मरद कमर में हाथ डालकर लिए फिरे हैं और वे हंस-हंसकर खिलर-खिलर बातें करे हैं । काका ! जितनी देर वे वहां रहवे हैं; बे यही कहते रहे हैं, उसकी बीवी खूबसूरत है, इसकी ज़ोरदार है । सरमा खुशकिस्मत है, रफीक की लौंडिया उसके घर जावे है । गुप्ता की बीवी उसके पास रहे है । सारा वक्त यही घुसर-पुसर होती रहे । और मौका देख कोई किसीके साथ उड़ चले है । उस दिन जीत की खुशी में ड्रामा हुआ था । पुलिस के कप्तान लालाजी बने थे । वे लालाजी बनकर लोगों को हंसाते रहे और मेजर साहब उनकी बीवी को लेकर डाकबंगले की सैर करने चले गए । ये हैं बड़े लोगन के चाल-चलन । ये हमारे

आका···हमारे भाग की लकीर इन्हींकी कलम से खिचे हैं।'

गोपी ने फिर ज़ोर से बीड़ी का कश खींचा और गम्भीरता से कहा, 'रहमान ! देखने में जो जितना बड़ा है, असल में वह उतना छोटा है।'

'और खोटा भी।'

'और क्या !'

'और इन्हींके लिए सलीम हमें बदतमीज़, बदसहूर, बेअकल न जाने क्या-क्या कहवे है। मैंने भीसोच लिया है कि आज उससे फैसला करके रहूंगा। मैंने हमेसा उसे अपना समझा है। नहीं तो···नहीं तो···।'

गोपी ने अब अपना डण्डा उठा लिया। बोला, 'रहमान, कुछ भी हो, सलीम तेरा ही लड़का माना जावे है। जवान है; अबे-तबे से न बोलना, समझा; आजकल हवा ही ऐसी चल पड़ी है। और चली कब नहीं थी ? फरक इतना है कि पहले मार खाकर बोलते नहीं थे, अब सीधे जवाब देवे हैं···।'

रहमान तेज़ ही था। कहा, 'मैं उसके जवाबों की क्या परवा करूं काका। जावे जहन्नुम में। मेरा लगे क्या है ?···और काका ! मैं उसे मारूंगा क्यों ? मेरे क्या हाथ कुले हैं। मैं तो उससे दो बात पूछूंगा, रास्ता इधर या उधर। और काका, मुझे उस साले की ज़रा भी फिकर नहीं है। फिकर उसकी मां की है। यूं तो औलाद और क्या कम हैं पर ज़रा—यही कुछ सहूरदार था···काका, सोचता था, पढ़-लिखकर कहीं मुंशी बनेगा, जात-बिरादरी में नाम होगा।लेकिन लिखा क्या किसीसे मिटा है !'

गोपी बोला, 'हां रहमान ! लिखा किसीसे नहीं मिटा। अब चाहे तो मालिक भी नहीं मेट सकता। ऐसी गहरी लकीर बेमाता ने खींची है। सो भैया, अपनी इज्ज़त अपने हाथ है। ज़्यादा कुछ मत कहना। पढ़ों-लिखों को गैरत जल्दी आ जावे है। समझा···?'

'समझा काका।'

और फिर गोपी डंडा उठा, घास की गठरी कंधे पर डाल, साहब सलाम करके चला गया। रहमान कुछ देर वहीं शून्य में बैठा धुंधले होते वातावरण को देखता रहा। मन में उमड़-घुमड़कर विचार आते और आपस में टकराकर छितरा जाते। वे झील के गिरते पानी के समान थे, गहरे और तेज़। इतने तेज़ कि उफनकर रह जाते। उनका ताकालिक मूल्य कुछ नहीं था, इसीलिए उसके

मन की झुंझलाहट और गहरी होती गई। करुणा और विषाद कोई उसे कम नहीं कर सका। आखिर वह उठा और अन्दर चला गया।

घर में सन्नाटा था। बच्चे अभी तक खेलकर नहीं लौटे थे। उनकी बीवी रोटियां सेंक रही थी। सालन की खुशबू उसकी नाक में भर उठी। एक नज़र उठाकर अपनी बीवी को देखा—शान्त चित्त वह काम में लगी है। उसके कानों के लम्बे बाले रोटी बढ़ाते समय वेग से हिलते हैं। उसके सिर का गन्दा कपड़ा खिसककर कंधे पर आ पड़ा है। यद्यपि जवानी बीत गई है तो भी चेहरे का भराव अभी हलका नहीं पड़ा है। गोरी न होकर भी वह काली नहीं है। उसकी आंखों में एक अजीब नशा है। वही नशा उसे बरबस खूबसूरत बना देता है। जिसकी ओर वह देख लेती है, एक बार तो वह ठिठक ही जाता है। रहमान सहसा ठिठका— उन दिनों इन्हीं आंखों ने मुझे बेबस बना दिया था। नहीं तो···

सहसा उसे देखकर बीवी बोल उठी, 'इतने तेज़ क्यों हो रहे थे ? गैरों के आगे क्या इस तरह घर की बात कहवे हैं ?'

रहमान कुछ तलख़ी से बोला, 'गैरों के आगे क्या ? पानी अब सिर से उतर गया है। कल को जब घर से निकल जावेगा तब क्या दुनिया कानों में रूई ठूंस लेगी या आंखें फोड़ लेगी ?'

बीवी को दुःख पहुंचा। बोली, 'बाप-बेटे क्या दुनिया में कभी अलग नहीं होते ?'

'कौन कहे है वह मेरा बेटा है ?'

'और किसका है ?'

'मैं क्या जानूं ?'

'ज़रा देखना मेरी तरफ ! मैं तो सुनूं।'

तिनककर उसने कहा, 'क्या सुनेगी ? मेरा होता तो क्या इस तरह कहता ! ज़बान खींच लेता साले की।'

'देखूंगी किस-किसकी ज़बान खींचोगे। अभी तक तो एक भी बात नहीं सहारता।'

'बच्चे और जवान बराबर होवे हैं ?'

'नहीं होवें पर पूत के पांव पालने में नज़र आ जावे हैं। और फिर वही कौन-सा जवान है ? अल्हड़ उमर है। एक बात मुंह से निकल गई तो उसीको

सिर पर उठा लिया। तुम्हारा नहीं तभी तो। अपना होता तो क्या इस तरह ढोल पीटते ? अपनों के हज़ार ऐब नज़र नहीं आवे हैं। दूसरों का एक ज़रा-सा पहाड़ बन जावे है···।'

रहमान कुछ भी हो इतना मूर्ख नहीं था। उसने समझ लिया, उसने बीवी के दिल को दुखाया है। पर वह क्या करे ? सलीम से उसे क्या कम मोहब्बत है ! पेट काटकर उसे रहमान ने ही तो स्कूल भेजा है। उसके लिए अब भी कभी बड़े बाबू से, कभी डिप्टी, कभी बड़े साहब से गिड़गिड़ाता रहता है। इतनी गहरी मोहब्बत है, तभी तो इतना दुःख है। कोई गैर होता तो···

तभी उसके चारों बच्चे बाहर से शोर मचाते हुए आ पहुंचे। वे धूल-मिट्टी से लिथड़े पड़े थे। परन्तु गन्दे और अर्द्ध-नग्न होने पर भी प्रसन्न थे। सबसे बड़ी लड़की लगभग बारह वर्ष की थी। आते ही खुशी-खुशी बोली, 'अम्मी ! आज हम भइया की जगह गए थे।'

रहमान को कुछ अचरज हुआ, पर वह जला-भुना बैठा था। कड़ककर बोला, 'कहां गई थी चुड़ैल ?'

लड़की सहम गई। घबराकर बोली, 'भइया की जगह।'

'कौन-सी जगह ?'

'जहां भइया जाते हैं। दूर···।'

छोटा लड़का जो दस बरस का था अब एकदम बोला, 'अब्बा, वहां बहुत सारे आदमी थे।'

तीसरा भी आठ बरस का लड़का था। आगे बढ़ आया, कहा, 'वहां लैक्चर हुए थे।'

रहमान अचकचाया, 'लैक्चर ?'

लड़की ने कहा, 'अब्बा ! लैक्चर हुए थे। भइया भी बोले थे। लोगों ने बड़ी तालियां पीटीं !'

अम्मीं का मुख सहसा खिल उठा। गर्व से दृष्टि उठाकर उसने रहमान को देखा। फिर बोली, 'क्या कहा उसने ?'

लड़की मुरझा चली थी, सहसा दुगने उत्साह से भर उठी, कहने लगी, 'अम्मीं, भइया ने बहुत-सी, बहुत-सी बातें कही थीं। हम गंदे रहते हैं, हम अनपढ़ हैं, हम चोरी करते हैं। हमें बोलना नहीं आता। हमें खाने को नहीं

मिलता···।'

रहमान चिहुंककर बोला, 'देखा तुमने ?'

बीवी ने तिनककर कहा, 'सुनो तो । हां, और क्या लाली ?'

लड़का बोला, 'मैं बताऊं अम्मीं ! भइया ने कहा था कि इसमें हमारा ही कसूर है।'

'हां', लड़की बोली, 'उन्होंने कहा, बड़े लोग हमें जान-बूझकर नीचे गिराते जावे हैं और हम बोलें ही नहीं ।'

और फिर अब्बा की तरफ मुड़कर बोली, 'क्यों अब्बा, वे लोग कौन हैं ?'

अब्बा तो बुत बने बैठे थे; क्या कहते !

लड़का कहने लगा, 'अब्बा ! और जो उनमें बड़े आदमी थे सबने यही कहा—'हम भी आदमी हैं । हम भी जिएंगे । हम अब जाग गए हैं ।'

अम्मीं ने एक लम्बी सांस खींची । चेहरा प्रकाश से भर उठा, 'सुनते हो सलीम की बातें ?'

रहमान अब भी नहीं बोला । लड़की बोली, 'और अम्मीं ! भइया ने मुझसे कहा था, मैं अब घर नहीं आऊंगा ।'

'नहीं आएगा ?'

'हां अम्मीं ।'

रहमान की निद्रा टूटी, 'क्यों नहीं आएगा ? क्योंकि हम गन्दे हैं···?'

'नहीं अब्बा !' लड़की एकाएक अतिशय गम्भीर हो आई, बोली, 'भइया ने मुझसे कहा था, अब इस घर में नहीं रहूंगा। नया घर लूंगा, बहुत साफ, अब्बा से कह दीजो, वहां रहने से गड़बड़ हो सकती है । हम लोगों के पीछे पुलिस लगी रहती है । वहां आएगी तो शायद अब्बा की नौकरी छूट जावे ।'

और फिर व्यग्रता से बोली, 'क्यों अब्बा ! पुलिस क्यों आवेगी···?'

लेकिन अब्बा हों तो बोले । उनके तो सिर में भूचाल आ गया है । वह घूम रहा है, घूम रहा है, रुकता ही नहीं···

गृहस्थी

पहली अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में जिन हिन्दी कहानियों को पुरस्कार मिला है उनमें गृहस्थी को चौथा पुरस्कार मिला। इस कहानी के पात्रों को मैंने बहुत पास से देखा है। इससे ज्यादा इसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। इसका रेडियो रूपान्तर भी अनेक भाषाओं में प्रसारित हुआ है और बहुत पसन्द किया गया है।

◎

वीणा जब बाहर से लौटी तो सदा की तरह झुंझलाहट से भरी हुई थी। उसके पीछे दोनों बच्चे ऐसे दौड़ रहे थे मानो इंजन के साथ ट्रेन के डिब्बे घिसट रहे हों। वह शीघ्रता से ऊपर चढ़ गई। आगे बढ़ने से पूर्व उसने ज़ीने के पास वाले कमरे में झांककर देखा, हेमेन्द्र तख्त पर लेटा हुआ एक पुस्तक पढ़ने में व्यस्त है। उसे देखकर वह कुछ बड़बड़ाई और आगे बढ़ गई, लेकिन बच्चे नहीं बढ़े। वे भड़भड़ाते हुए कमरे के अन्दर दाखिल हो गए। अतुल ने सीधे, तख्त के ऊपर, हेमेन्द्र के पास जाकर कहा, 'पिताजी, डाक्टर ने कहा है, अम्मा की अंगुली कटेगी।'

हेमेन्द्र ने मुंह उठाकर अतुल को देखा और फिर धीरे से कहा, 'नीचे उतरो।'

'अम्मा की अंगुली कटेगी।'

'मैं कहता हूं नीचे उतरो। जाओ ! जाओ भाई, उतर जाओ।'

अब अतुल ने मुंह चढ़ा लिया। रुंआसा-सा होकर बोला, 'हम कहते हैं, अम्मा की अंगुली कटेगी।'

'ओफ्फो ! भाई रोते क्यों हो ? कहां है अम्मा ?'

सुजाता उर्फ ताता ने आगे बढ़कर कहा, 'मामाजी ! मामी के हाथ में फुंसी निकली है न ? डाक्टर ने उसे काटने को कहा है।'

'ओ हो ! यह बात थी। जाओ, जाओ, मुझे पढ़ने दो। बाहर खेलो जाकर।'

सुजाता बाहर जाने को मुड़ी, पर अतुल महाशय खिड़की पर चढ़ गए और बोले, 'मैं यहां बैठकर पगा। ताता तू भी आ।'

वह अपना वाक्य पूरा भी न कर पाया था कि ताता कूदकर उसके पास जा बैठी और दोनों एक-एक किताब उठाकर परीक्षार्थी विद्यार्थियों की भांति पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। हेमेन्द्र ने एक बार उन्हें देखा, फिर मुस्कराकर अपनी पुस्तक की ओर मोड़ लिया। कुछ क्षण बीते होंगे कि एक हाथ में दूध का गिलास लिए वीणा ने वहां प्रवेश किया। उसे पास की तिपाई पर रखकर वह बोली, 'अतुल, ताता ! जाओ, मैं दूध रख आई हूं। जाकर पियो।'

दूध का नाम सुनकर दोनों बाहर दौड़ गए। तब वीणा ने बेरुखी से कहा, 'घर में आटा नहीं है।'

'ऐं।'

'घर में आटा नहीं है।'

स्वर में आवश्यकता से अधिक तलखी है। यद्यपि वह तलखी उसके लिए नई नहीं है, तो भी उसे उठना पड़ा। उसने धीरे से गिलास उठाया फिर पूछा, 'तुमने पिया ?'

वीणा और भी भुनभुना उठी, 'मैं कहती हूं घर में आटा नहीं है।'

'नहीं है तो अन्नपूर्णा जाने।'

वीणा ने तीव्रता से कहा, 'अन्नपूर्णा गई भट्ठी में। मुझे आटा चाहिए।

हेमेन्द्र पर तनिक भी असर नहीं हुआ। बोला, 'वीणा का स्वर इतना कर्कश नहीं होना चाहिए।'

वीणा अब उबल पड़ी। जो कुछ भीतर भरा हुआ है वह वर्षा के नाले के वेग के समान बाहर निकलने लगा, 'मैं कहती हूं अपनी काहिली और निकम्मेपन को बातों के पीछे क्यों छिपाते हैं ? कुछ करते क्यों नहीं ? ऐसे ही जीवन बिताना है तो शादी क्यों की ? क्यों दुनिया में रहने की हविस करते हो ? कहीं जंगल में जा बसे होते ! कान खोलकर सुन लो, मैं अब इस तरह तुम्हारा घर नहीं चला सकती।'

हेमेन्द्र के मानो कुछ हुआ ही नहीं, ऐसे कहा, 'मेरा घर ! किसने कहा कि

घर मेरा है ? घर तो घरवाली का होता है।'

'मैं अब इन बातों में आनेवाली नहीं हूं। अगर रोटी खानी है, तो उठकर बाज़ार जाओ और गेहूं लेकर आओ।'

'आ जाएगा।' हेमेन्द्र ने उसी शान्ति से कहा और दूध पीकर पूर्ववत्: लेट गया।

पर वीणा शान्त होनेवाली नहीं है। हेमेन्द्र को लेटते देखकर और भी क्रुद्ध हो उठी। बोली, 'इस तरह काम नहीं चलेगा। मुझे आज फैसला करना है।'

'किस बात का ?'

'कि आपको काम करना है या नहीं ? आप कभी कुछ सोचते भी हैं ?'

शीघ्रता से बीच में टोककर हेमेन्द्र ने कहा, 'यही तो मुसीबत है। इतना सोचता हूं कि फुरसत नहीं मिलती।'

'खाक सोचते हो। कुछ सोचते होते तो ये दिन क्यों देखने पड़ते ? तुम तो एकदम निकम्मे हो गए हो। तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि घर को दियासलाई ही दिखा दो। फुंक जाएगा, तो न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।'

'ठीक कहती हो वीणा, काश कि मैं दियासलाई जला पाता ! जला सकता, तो प्रकाश न हो जाता ? अब तो मैं निरे अन्धकार में टटोल रहा हूं।'

वीणा तिलमिला उठी। उससे वहां खड़ा नहीं रहा गया। बड़बड़ाती हुई अन्दर चली गई और हाथ के गिलास को बड़ी तेज़ी से जूठे बर्तनों में फेंक दिया। ज़ोर का शब्द करता हुआ वह दूर जा पड़ा। फिर उठाया और दुगनी तेज़ी से यथास्थान रख दिया। उसके सामने ढेर सारा काम करने को पड़ा है। बरतन मांजने हैं, दाल बीननी है। फिर कहीं से आटा लाकर रोटी बनानी है। क्योंकि उनके कोई एक मित्र आनेवाले हैं। 'जी में आता है जिस किसीको खाने को कह देते हैं, पर यह नहीं सोचते कि खाना आएगा कहां से ? कोई बात है, मुझे दर-दर भटकना पड़ता है और ये हैं कि आराम से लेटे-लेटे ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाते रहते हैं। दोस्तों के साथ ऐसे कहकहे लगाते हैं कि आसमान फटने लगता है···।' कि उसी समय उसकी दृष्टि रसोई के अन्दर गई। देखा—अतुल और सुजाता दोनों अपने-अपने आसनों पर बैठे हैं। अतुल के सामने दूध बिखरा पड़ा है और वह सुजाता के गिलास से दूध पी रहा

है। वीणा चिल्ला उठी, 'अतुल !'

अतुल ने कांपकर गिलास मुंह से हटाया।

'तू सुजाता का दूध क्यों पी रहा है ?'

अतुल जोर से बोला, 'उसीने दिया है।'

सुजाता ने धीरे से कहा, 'मुझसे पिया नहीं गया, मामी !'

वीणा नरम पड़ी, पूछा, 'किसका दूध बिखरा है ?'

अतुल ने कहा, 'हम तो आ रहे थे, गिलास में पैर लग गया।'

वीणा एक बार फिर कांपी, पर दूसरे ही क्षण चिल्लाकर कहा, 'पैर लग गया ! क्यों लग गया ? देखकर नहीं चला जाता ? बड़ी नदी बह रही है न दूध की ! कल को यह भी नहीं मिलेगा। इन लक्षणों दूध क्या पानी की बूंद को तरसोगे। तुमने जन्म ही ऐसे घर में लिया है। पिछले जन्म में ज़रूर पाप किए होंगे।'

वीणा कहां से कहां पहुंच गई। आंसू भर आए। वाणी रुंध गई। उठी, पतीली में जो दूध था उसे चुपचाप दोनों के गिलासों में उंडेल दिया। दोनों बच्चे सप्रश्न देखते ही रह गए। वीणा ने कहा, 'देख क्या रहे हो ? जल्दी से पीकर गिलास मुझे दो।'

दोनों बच्चे यन्त्रवत् दूध पीने लगे। वीणा ने कहा, 'सुजाता ! दूध पीकर शीला भाभी के पास जाना।'

सुजाता ने एक सांस में दूध पीकर कहा, 'जाऊं ?'

'हां।'

'क्या कहूं ?'

'कहना, दो सेर आटा चाहिए।'

'अच्छा।'—कहकर सुजाता धनुष से निकले तीर की तरह भागी। अतुल ने पीछा करना चाहा, पर मां की आंखें देखकर झिझक गया। कुछ देर वहीं खड़ा रहा, फिर बैठक में पहुंचा। हेमेन्द्र के पास कोई मित्र आ बैठा है। गहरी बातें हो रही हैं। वह कुछ क्षण इधर-उधर मंडराया। फिर कोई किताब गिरा दी, तो हेमेन्द्र ने कहा, 'बाहर जाकर खेलो भाई।'

फिर अन्दर लौटा। वीणा बरतन मांज रही है। कई क्षण देखता रहा, फिर बोला, 'अम्मा !'

'हां।'

'तुम उठ जाओ।'

'क्यों ? बरतन कौन मांजेगा ?'

'हम मांजेंगे। तुम्हारे हाथ में चोट लग रही है।'

वीणा ने ऊपर से नीचे तक सिहरकर अतुल को देखा, मुस्कराई, बोली, 'जा, जा, बाहर खेल। बरतन मांजेगा ! बाप ने निहाल कर रखा है जो बेटा करेगा।'

अतुल कुछ खिसिया गया, पर वह कुछ कहे कि बाहर से आवाज़ आई, 'अरे भई, पानी भेजना!'

वीणा ने यन्त्रवत् गिलास धोया और अतुल को देखकर स्नेह से कहा, 'जा बेटा, अपने पिताजी को पानी दे आ।'

अतुल शीघ्रता से पानी लेकर चला कि ताता ने आकर कहा, 'मामी, उन्होंने आटा नहीं दिया।'

'क्या कहा ?'

'कह रही थीं, तीसरे दिन आटा मांगने आ जाती है। कहां से दें।'

यह सुनना था कि वीणा तड़प उठी, 'क्या कहा, तीसरे दिन आ जाती है ? कौन मरा जाता है तीसरे दिन ? और कभी लाती हूं तो क्या कभी रखा है ? तूने कहा नहीं ?'

सुजाता मामी का रौद्र रूप देखकर एकाएक सहम उठी। बोला नहीं गया। वीणा तेज़ हो उठी, 'हाय, जैसे घर में थे वैसे सोबे में आ गए। बिलकुल अपने निकम्मे मामा पर गई है। अरे तुझसे मुंह फाड़कर नहीं कहा गया कि मामी, बता तो कौन-सा आटा रख लिया है तेरा ? ले जाती हूं तो दूसरे दिन दे भी तो जाती हूं।'

सुजाता अब भी भयभीत दीवार से चिपकी खड़ी रही, पर वीणा का क्रोध शान्त नहीं हो पा रहा था। उसने बरतनों को छोड़ जल्दी-जल्दी हाथ धोते हुए चिल्लाकर कहा, 'अब खड़ी क्या है ? बरतनों को धो ले।'

और कहकर तड़पती-तड़पती पहुंची शीला भाभी के घर। भरी हुई तो थी ही, चिल्लाने लगी, 'मैं कहती हूं भाभी ! तुझे ताना मारते शर्म नहीं आई ? आटा नहीं है तो मना कर देती, पर बड़े बोल क्यों बोलती है ? बता तो किस

दिन तेरा आटा नहीं लौटा और कौन-सी चीज़ रह गई बता ?'

शीला को यही आशा थी। वह पूरी तरह तैयार है। बोली, 'देख वीणा! यहां तड़कने-भड़कने की ज़रूरत नहीं है। आटे को मैंने मना नहीं किया है। मैं तो कह रही थी, हेमेन्द्र का यह निकम्मापन अच्छा नहीं। सबके घर मिट्टी के चूल्हे हैं। आजकल किसके घर सोना बरसता है ? सब मेहनत करते हैं। उसे चाहिए हाथ-पैर हिलाए।'

वीणा ने तड़पकर बीच ही में टोकते हुए कहा, 'बस, बस, शीला भाभी! रहने दे। उन तक न जा। उन्हें तू खिला रही है क्या ? तेरा इतना साहस कि तू उन्हें निकम्मा कहे ? तेरे तो उनके पैर धोने लायक भी नहीं हैं। दुनिया पूजती है उन्हें। दूसरे दर-दर मारे फिरते हैं, तो कोई नहीं पूछता और यहां घर बैठे पूजने आते हैं। कोई दिन जाता होगा जो पांच-सात का खाना न बनाती हूं। बनाती हूं तो मैं, मुसीबत है तो मेरी, तुझे क्या दर्द उठा जो लगी उनका अपमान करने ? दो पैसे हो गए हैं तो लाड़ो का दिमाग फिर गया है! ब्लैक मार्केट की कमाई के यही फल होते हैं, अभिमान फूलता है। यहां तो तन खपाना पड़ता है तब दो टुकड़े नसीब होते हैं। पर कोई बता दे, किसीका रखा है, किसीसे भीख मांगी है ?'

नारी के अभिमान पर चोट लगती है तो तेज जाग उठता है। परन्तु वह तेज एक सीमा पर पहुंचकर पिघलने लगता है। वीणा का क्रोध पानी बन चला; आहत अभिमान आंखों की राह बह निकला। बोली, 'तुझे मैं अपना समझती थी तब तेरे पास आ जाती थी। नहीं तो और घर बहुत हैं। घर-गिरस्ती में लेना-देना चलता ही है।'

और इतना कहकर वह भरे गले से लौट चली। शीला बहुत-कुछ कहने को तैयार बैठी थी, पर आंसू देखकर उसकी सिट्टी गुम हो गई। वह खिसिया गई और निकाला हुआ आटा वहीं पड़ा रह गया।

लेकिन कुछ देर बाद कहीं और से आटा लेकर वीणा जब घर पहुंची तो देखती क्या है कि शीला का लड़का आटा लिए नीचे खड़ा है।

वीणा ने अभिमान-भरे स्वर में कहा, 'मुझे आटा नहीं चाहिए। कह देना मुझे उसका कुछ नहीं चाहिए।'

और झपटकर वह ऊपर चढ़ गई। कमरे के पास आकर सुना कि अन्दर

कई व्यक्ति ज़ोर-ज़ोर से बोलकर अपनी महत्ता को प्रकट कर रहे हैं, पर उसके पति का स्वर सदा की तरह शान्त और धीमा है। उसे लगा, उस शान्ति में गहनता है। धुआंधार वर्षा का पानी धरती को धो जाता है, पर उसकी प्यास नहीं बुझा पाता। वह काम तो भरे हुए बादलों की धीमी-धीमी बूंदें ही कर सकती हैं।

एक बन्धु बड़ी तीव्रता से बोल रहे हैं, 'चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। आचरण समाप्त हो चुका है। कुछ साम्राज्यवादी स्वार्थी लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए दुनिया को गुमराह कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आपके पास क्या है जो इस बढ़ते हुए अत्याचार का विरोध कर सकें?'

हेमेन्द्र का वही चिरपरिचित शान्त स्वर, 'मेरी दृष्टि में तो आवश्यकता अकिंचन बनने की है।'

मित्र ठगे-से रह गए! कई क्षण सन्नाटा रहा, फिर एक ने कहा, 'क्या?'

दूसरे ज़ोर से हंसे, 'वाहियात! ढोंग।'

तीसरे बोले, 'आपका मतलब क्या है?'

हेमेन्द्र ने उसी शान्ति से जवाब दिया, 'मतलब साफ है। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हम यह पता लगाएं, किसमें कितने दोष हैं, बल्कि इस बात की है कि हम अपने दोषों को स्वीकार करें।'

एक कहकहा लगा। एक मित्र ने कहा, 'वही खोखला आदर्शवाद।'

दूसरे तलखी से बोले, 'आप तो बस सदा साधु बनने की बात कहते हैं, पर उसके लिए तपोवन की ज़रूरत है, दुनिया की नहीं।'

हेमेन्द्र ने कहा, 'तपोवन दुनिया से बाहर नहीं है, देखें तो तपोवनों ने अक्सर सफलतापूर्वक शासन किया है।'

मित्र भी अप्रतिभ न होने की प्रतिज्ञा करके आए हैं; और भी विद्रूप से बोले, 'आप जिस त्याग की ओर संकेत कर रहे हैं, वह क्रान्ति के बिना असम्भव है।'

हेमेन्द्र ने जवाब दिया, 'क्रान्ति की आवश्यकता हो सकती है, पर उसका शोर एकदम अनावश्यक है। मैं तो कहता हूं मेरे भाई! सब कुछ बदल दो पर जब तक अपने को अकिंचन समझकर काम करने की शक्ति नहीं पा सकोगे तब तक कुछ नहीं होगा। आज नहीं, कल झगड़ा होगा। अपना महत्त्व बढ़ा तो

दूसरों का घटेगा। दूसरों का महत्त्व घटा तो शान्ति, सद्भावना और सुख तब हवा हुए।'

किसीने कुछ जवाब नहीं दिया। हेमेन्द्र ने क्षण-भर रुककर फिर कहा, 'सो भाई, मूल बात तो अकिंचन बनने की है; शेष जो जनतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, समाजवाद, गांधीवाद या विषाक्त गैस, एटम बम, हाइड्रोजन बम की बात है, वह सब ऊपरी है। भोजन उन्हें जड़ से मिलता है। जड़ में अकिंचन है तो ये सब मनुष्य के दास हैं। नहीं तो तुम जानते हो, आज ये सब मनुष्य की छाती पर चढ़ बैठे हैं और मनुष्य है कि अपने को उनका स्वामी समझकर उन्हें दूसरों को नष्ट करने का आदेश दे रहा है।'

मित्र जैसे अब बेसबरे हो चले हैं। सहसा एक ने तीव्रता से कहा, 'आप तो आत्महत्या करने की बात कहते हैं। क्या नष्ट हो जाने में ही कल्याण है?'

उसी तरह धीमे स्वर में हेमेन्द्र ने कहा, 'आपकी बात मान ली पर मैं पूछता हूं, हम नष्ट हो गए तो दुनिया का क्या बिगड़ जाएगा? और बिगड़ भी जाए, कोई इस रास्ते आकर देखे तो सही। लोग तो पहले ही काल्पनिक भय के मारे जान दिए डाल रहे हैं, मेरे भाई! भय ही मनुष्य का एकमात्र दुश्मन है और आज की यह सारी शक्ति इसी भय की नींव पर खड़ी हुई है।'

अन्दर फिर सन्नाटा गहरा उठा। लगा इस बात का किसीके पास कोई जवाब नहीं है। वीणा का मन एक मधुर आह्लाद से भर उठा पर उसे तो रोटी बनानी है। याद आते ही वह जैसे स्वर्ग से गिरी और आगे बढ़ गई। जल्दी से चूल्हे में आग चेतन की। कौन जाने इन्हींमें कोई खानेवाला हो और वे अभी कहला भेजें? कोई भरोसा थोड़ा ही है उनका। उसके हाथ काम कर रहे थे और मस्तिष्क सोच रहा था कि कुछ देर बाद अतुल ने आकर कहा, 'अम्मा! पिताजी कहते हैं, खाना पांच आदमियों के लिए बनाना।'

वीणा जैसे कुछ समझी नहीं, 'क्या कहता है?'

'पिताजी कहते हैं, पांच आदमी खाना खाएंगे।'

जैसे एकदम ज्वालामुखी फट गया हो। चिल्लाकर वीणा बोली, 'कह दे जाकर, यहां होटल नहीं खुला है और न कोई सदाव्रत लगा है। क्या समझ लिया है मुझे? कह दिया पांच आदमी खाना खाएंगे। जैसे घर में कामधेनु बंधी हुई है। वाह जी वाह! कुछ करना न धरना! दिन-भर तख्त पर पड़े हुए हुक्म

चलाए जाते हैं। करना पड़े तो पता लगे। भला कोई बात है ? पांच को क्या मैं अपना सिर खिलाऊंगी। जरा बुलाकर तो ला।'

अतुल बच्चा है पर जान पड़ता है ऐसी बातों का आदी है। बोला, 'अम्मा ! वहां तो बहुत-से आदमी बैठे हैं।'

'तू जाएगा भी या यहीं खड़ा-खड़ा ज़बान चलाएगा ? आखिर है तो उसी बाप का बेटा न ! जा ; मैं कुछ नहीं कर सकती। कुछ नहीं करूंगी। जो होगा देखा जाएगा। एक दिन की हो तो भुगती जाए, यह तो रोज-रोज की दांता-किलकिल है। आज इसका फैसला होकर रहेगा। मैं अब इस घर में नहीं रह सकती। मैं इस घर में नहीं रहूंगी।'

वीणा बोलती जाती है और जल्दी-जल्दी आटा मलती जाती है। चूल्हे की लकड़ी बाहर निकल आई है, उसे तेजी से अन्दर डाल दिया। दाल का मैल उफन रहा है उसे उतारा और साग के ऊपर का पानी बदला और, एक बार फिर ज़ोर से कहा, "मैं देखूंगी आज क्या होता है ? आज फैसला नहीं किया तो मुझे भी वीणा कौन कहे ? मुझे क्या कोई कमी है ? न जाने किस जन्म के पाप से ऐसे निकम्मे के पल्ले बंध गई हूं ? पर मैं क्या अपाहिज हूं ? दस काम कर सकती हूं। पढ़ा सकती हूं।'

फिर उसी तेज़ी से अतुल से कहा, केवल कहना चाहा, कह न सकी क्योंकि तभी सामने से मदन आ गया। बोला, 'भाभी नमस्ते।'

किसी तरह संभलकर वीणा ने उत्तर दिया, 'नमस्ते।

ओ हो ! भोजन बन रहा है। बैठक में बड़ी भीड़ है। 'आज भी दावत है क्या ? कोई खास प्रबन्ध तो दिखाई देता नहीं ?'

मदन इस घर का पुराना परिचित है। अक्सर आता रहता है। हेमेन्द्र से अधिक वीणा से उसकी पटती है। पहले तो वीणा उससे बचती थी क्योंकि उसकी वाणी में संयम कम था, पर जब मदन ने भइया के विरोध में भाभी का पक्ष लिया तो वीणा उससे नाराज न रह सकी। बाद में तो वह कई बार उसके आगे रो-रो पड़ी है। आज भी फफक उठी, 'भीड़ लगी हैं तो खाएंगे ही। हुक्म आया है पाँच आदमियों का खाना तैयार करो, अब बताओ मैं कहां जाऊं ? क्या करूं ? इन्होंने तो मेरा जीना कठिन कर दिया।'

'पांच आदमी खाना खाएंगे ?'

'हां ।'

'पहले नहीं कहा था ।'

'पहले तो एक का कहा था ।'

'हाय राम ?' मदन ने नेत्र विस्फारित करते हुए कहा, 'यह अत्याचार है ! ना बाबा ! कोई बात है ? किसी भली औरत को इस प्रकार सताना । भाभी ! सच कहता हूं तुम हो, नहीं तो इस घर में कोई टिक सकता है ? घर में दाना नहीं, लाने की हिम्मत नहीं, दिल इतना बड़ा कि दावत देंगे शहर-भर को । हूं ।'

'क्या बताऊं. तू ही देख ले ।'

'भाभी ! इतना तो कुछ न कुछ प्रबन्ध करना ही होगा । मैं बताता हूं, आज तुम खाना मत बनाओ । देखते हैं, क्या होता है । आखिर एक दिन इसका फैसला तो होना ही है ।'

'होना तो है ।'

तो बस, आज होने दो । सबसे अच्छा तो है कि तुम गायब हो जाओ ।'

न जाने क्यों वीणा ने यह सुनकर एकदम मदन को देखा । देखा बलिष्ठ शरीर और लाल सेब-सा मुखवाला वह मदन मुस्करा रहा है और उसकी आंखों से मद-सा झर रहा है । वीणा कांप उठी । कई बार कांपी, फिर सस्मित-सी उठकर अन्दर चली गई । लगा वह गिर पड़ेगी । उसने दीवार पकड़ ली । कई क्षण उसपर सिर टिकाए रही, फिर आप ही आप आगे बढ़ी, जैसे वीणा नहीं है कोई यन्त्र है । अलमारी खोली । उसमें एक सन्दूकची रखी है । उसीके नीचे के खाने में एक रूमाल है जिसमें कुछ रुपये बंधे हैं । उनमें से वीणा ने तीन रुपये लिए और बाहर आई । जैसे युग बीत गए । बिलकुल बदल गई । बोली, 'मदन ?'

मदन चकित-विस्मित ! 'भाभी ?'

'ले भाइया ? ज़रा बाज़ार तो जाना । पास ही चाटवाले की दुकान है । एक रुपये की चाट अतुल को ले दे और सुजाता को भी ले जा । दूध मिलेगा, गर्म या ठंडा, कैसा भी हो । सामक के चावल पड़े हैं, वे ही बना दूंगी और हां, एक दर्जन पक्के केले भी लिवा देना । न हो तो दे जाना । तुम्हें तकलीफ तो होगी ।'

मदन है भी और नहीं भी । वह सुनने का नाटक कर रहा है और देख रहा

है वीणा के मुख को। कुछ पल्ले नहीं पड़ा पर दूसरी बार पूछने और मना करने का साहस भी उसमें नहीं है। उलटे पैरों दौड़ा, 'अभी लाता हूं।'

नीचे उतरकर होश आया। पहले तो मन ही मन वीणा को एक मोटी-सी गाली दी। फिर लाना क्या है यह याद करने लगा, पर याद ने सरासर धोखा दिया। सौभाग्य से अतुल और सुजाता साथ हैं और उन्हें सब कुछ याद है, इसलिए कोई दिक्कत नहीं हुई। बाज़ार से सामान आया और वीणा ने सबके लिए खाना बनाया। मित्र लोग खाते जाते हैं और प्रशंसा के पुल बांधते जाते हैं। स्वयं हेमेन्द्र को उस दिन की विविधता पर अचरज हुआ।

सब खा चुके तो वीणा ने दोनों बच्चों को अच्छी तरह खिलाया-पिलाया, पर अपने लिए उसने कुछ भी बचाकर नहीं रखा। अतुल और सुजाता के सामने जब उसने अन्तिम रोटी और रही-सही खीर परोसी तो दोनों ने एक-दूसरे को देखा। वीणा भभक उठी, 'बुत बने क्यों बैठे हो? खाते क्यों नहीं? पहले ही बहुत मिलता है, जो लिए बैठे हो। कब तक तुम्हारे लिए रुकी रहूंगी? अभी चौका उठाना है, बरतन मांजने हैं। जल्दी खाओ और खबरदार जो कुछ छोड़ा। राशन का ज़माना है।'

दोनों बच्चे बोलने में असमर्थ जल्दी-जल्दी खाने लगे। खा चुके तो बैठक में पहुंचे। अतिथि लोग चले गए हैं और हेमेन्द्र किसी समाचारपत्र के पन्ने उलट रहा है। उसने एक बार दृष्टि उठाकर दोनों बच्चों को देखा और पूछा, 'खा लिया भाई!'

दोनों ने एकदम गरदन हिलाकर स्वीकृति दी। हेमेन्द्र ने फिर पूछा, 'अच्छा लगा न?'

अतुल एकदम बोला, 'पिताजी, अम्मा ने खाया ही नहीं।'

ताता ने शीघ्रता से समर्थन किया, 'हां, मामाजी! मामी के लिए कुछ नहीं बचा!'

'कुछ नहीं!'

'हां!'

'क्यों!'

'पता नहीं।'

तीनो ने एक-दूसरे को देखा। जानकर नहीं, अनजाने ही दृष्टि मिल गई।

हेमेन्द्र एक बार तो उठाकर कोई पुस्तक पढ़ने लगा, पर कुछ देर बाद न जाने क्या हुआ? पुस्तक बन्द करके अंगड़ाई ली और एक दृष्टि कमरे पर डाली। वही एक मेज़, एक कुरसी, दो आराम कुर्सियां, एक डेस्क, एक तख्त और चटाई का फर्श और आलों में कुछ किताबें। दीवार पर दो-तीन पारिवारिक चित्र—सब कुछ देखकर वह बाहर आया। देख—वीणा रसोई के बाहर बरतन मल रही है। उसका आंचल गोदी में पड़ा है। बाल कुछ बिखरे-से हैं। मुख पर गहरी वेदना के चिह्न हैं कुछ अच्छा नहीं लगा। पास आकर पुकारा, 'वीणा?'

वीणा ने आंखें झुका लीं, 'हां।'

'सुनो तो।'

'कहो भी।' स्वर में कर्कशता थी।

'तुमने कुछ नहीं खाया?'

अब वीणा ने गरदन उठाई। उसी कर्कश स्वर में कहा, 'तुम्हें क्या मतलब?'

'मतलब तो कुछ नहीं पर पूछता था।'

वीणा उबल उठी, 'मतलब नहीं तो क्यों पूछते हो? बड़े पूछने वाले बने हो, जैसे कोई समझे बड़ा ध्यान रखते हैं घर का! कान खोलकर सुन लो, मैं जा रही हूं।

हेमेन्द्र को लगा उसने यहां आकर गलती की, पर अब तो तीर कमान से छूट चुका था। मुस्कराकर बोला, 'तुम तो वीणा, व्यर्थ ही इतनी तेज़ होती हो। अरे भई! वे आ गए तो क्या मैं मनाकर देता? सब अपने-अपने भाग्य का खाते हैं। दाने-दाने पर मोहर है। बेचारे तुम्हारी तारीफ करते नहीं अघाते थे।'

वीणा का मुंह तमतमा रहा है। तीव्रता से कहा, मुझे नहीं, चाहिए किसी-की तारीफ। उसे आप बांधकर अपने सिर पर लीजिए। मुझे क्यों तंग करते हो? मैं तो जा रही हूं!'

हेमेन्द्र हंसा, 'तुम्हारे बिना 'मुझे तारीफ मिलनेवाली नहीं है।'

हंसी क्रोधरूपी अग्नि का घृत है। वीणा की क्रोधाग्नि भभक उठी; बोली, मैंने कह दिया, मुझे कोई मतलब नहीं। क्यों मुझे जलाने आए हो? मैं अब

नहीं रहूंगी, नहीं रहूंगी, मेरा-तुम्हारा निभाव नहीं हो सकता।'

'कहां जाग्रोगी?'

'कहीं भी जाऊं।'

'पर मैं जानूं तो सही।'

'तुम्हें क्या पड़ी है। तुम चले जाग्रो। नहीं तो मैं ग्रभी कूद पड़ूंगी।'

'कूद पड़ोगी सो कूद पड़ो! तुम तो हमेशा ही ऐसी धमकियां देती रहती हो।'

'क्या कहा? मैं धमकी देती हूं! ग्रच्छी बात है। देख लेना इस क्षण के बाद इस घर का एक बूंद पानी भी पीऊं तो वीणा न कहना।'

हेमेन्द्र ने ग्रब वहां से हट जाने में ही कल्याण समझा। चुपचाप ग्रपने तख्त पर जा बैठा। वीणा उसी ग्रावेश में ग्रन्दर जाकर ग्रपनी चीज़ बटोरने लगी। वह रह-रहकर ग्रस्फुट स्वर में बड़बड़ा उठती थी, ग्राज मुझे चले ही जाना है। चाहे मुझे धर्मशाला में जाकर रहना पड़े, पर ग्रब इस घर में नहीं रहूंगी। कोई बात है? मुझे न जाने क्या समझ लिया है? नौकरानी भी ग्रच्छी होती।'

ग्रांखों में ग्रांसू भर ग्राए पर उन्हें पोंछा नहीं। उसी तरह बड़बड़ाती रही, न जाने मैंने क्या पाप किए थे जो इस नरक में पड़ना पड़ा। हर वक्त बात, हर वक्त बात, जब देखो तब बात! जैसे बातें ही धरती को स्वर्ग बना देंगी। मिट्टी के माधो न काम के न धाम के। बस हुकूमत चलवा लो। भगवान् ने तनिक बुद्धि दे दी है। नहीं तो कोई पूछता भी नहीं। कोई कमी थी मुझे? ऐसे-ऐसे···।'

फिर सहसा मदन का ध्यान ग्रा गया—गठीला बदन, रक्तिम वर्ण, विशाल वक्षस्थल, ग्राजानुबाहु, मदिर नयन!

जैसे तूफान में पत्ता कांप उठता है ऐसी ही हालत तब वीणा की हुई। सब कुछ शून्य हो गया ग्रौर फिर उस शून्य में ग्रतुल की मूरत उभरने लगी। ग्रांखों में ग्रश्रु का वेग बढ़ चला। सिहरकर फुसफुसाई, 'ग्रतुल मेरा है, मेरे साथ रहेगा। ताता ग्रपने घर जाएगी।'

बहुत देर तक इस तरह सोच-सोचकर वह बाहर निकली। उसका मुख डूबते सूरज की लाली जैसा लग रहा है। ग्रांख वीरबहूटी ग्रौर शरीर जैसे

झुलस गया है। वह सीधी बैठक में पहुंचने ही वाली थी कि कानों में कुछ शब्द पड़े। ठिठक गई, स्वर नारी का है। कह रही है, 'ऐसी हालत में क्या मुझे उसके पास रहना चाहिए ?'

जवाब हेमेन्द्र ने दिया। वही शान्त और गम्भीर स्वर, 'यह तो आपके निश्चय करने की बात है। मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।'

'मैंने तो निश्चय कर लिया है, मैं अब उसके साथ नहीं रहूंगी। मैं कल ही आपके पास आ जाऊंगी।'

'मेरे पास ? आपका मतलब मेरे घर ?'

'मैं घर-वर कुछ नहीं जानती। मैं आपको जानती हूं।'

'पर मैं तो कुछ नहीं हूं, जो कुछ है घर है।'

'कुछ भी हो।'

'कुछ भी कैसे ? उसमें अन्तर है। मैं कुछ नहीं हूं, घर है। और घर से मतलब है वीणा ! सो मेरे पास आओगी तो वीणा से कह दूंगा कि वह तुम्हारा प्रबन्ध कर दे। वीणा के बिना मैं कुछ नहीं हूं।'

वीणा ने सब कुछ समझा। उस औरत को पहचाना। वह अक्सर आया करती है। सब कुछ समझ गई। जैसे एक बार फिर तूफान आया, भूकम्प ने सब कुछ उलट-पुलट दिया। वीणा जान बचाकर अन्दर भागी, पर भूकम्प से क्या कोई बचता है ? हतभागिनी-सी वह वहीं अपनी गठरियों, अपने दोनों बेखबर सोते हुए बच्चों के पास फर्श पर गिर पड़ी और फफक-फफककर रो उठी—'ओह ! मैं इतनी कायर क्यों हुई ? क्यों···क्यों···।'

नाग-फांस

इसका आधार कोई घटना-विशेष नहीं बल्कि यह एक विचार से अनुप्राणित है। वह यह कि आज की मां जिस ममता का ढोल पीटती है वह सन्तान के प्रति प्रेम नहीं बल्कि मोह है जो अपने स्वार्थ के कारण पैदा हुआ है। सन्तान के लिए नहीं अपने स्वार्थ के लिए वह सन्तान के मार्ग की बाधा बन जाती है। इसी विचार को मैंने इस कहानी में मूर्त किया है। मनोविज्ञान के प्रेमी इस कहानी की चर्चा करते हैं।

०

सुशील की मां अक्सर कहा करती थी और अक्सर क्या, अब तो कहने के लिए उसके पास एकमात्र यही कहानी शेष रह गई थी। लम्बी सांस खींचकर, गर्व और वेदना-भरे स्वर में वह कहती, 'भगवान् की कृपा से उसने चौदह पुत्रों को जन्म दिया था।'

सुननेवालियों की आंखों में कौतूहल साकार हो उठता। कोई वाचाल पूछ बैठती, 'चौदह पुत्र! पर मांजी, अब तो केवल दो हैं।'

'हां, बेटी! देखने के लिए ये ही दो हैं। वैसे मेरे चार बेटे दिसावर रहते हैं।'

'अच्छा, कमाने के लिए गए हैं?'

'हां, कमाते ही होंगे।'

'क्यों, कुछ भेजते नहीं?'

'भेजना! उन्होंने तो जाकर इधर देखा भी नहीं!'

'हाय रे! कैसे बेटे हैं', वह वाचाल नारी कांप उठती, 'पर मांजी, तुम्हें उनका पता तो होगा?'

सुशील की मां उसी सहज वेदना-भरे स्वर में बोलती, 'पता बताया ही नहीं तो कैसे जान सकती हूं। वे चारों तो ऐसे गए कि जैसे थे ही नहीं।'

'शेष।'

'राम को प्यारे हुए।'

'ओह···!'

'क्या बताऊं, बेटी। ये दो बच्चे हैं। कुशल का स्वभाव भी ऐसा ही था—कई बार भागने को हुआ। पर उसपर मैंने बड़ी मिन्नतें मानीं, जात बोली, चढ़ावे चढ़ाए तब कहीं जाकर देवी की कृपा से रुका है।'

इसपर प्रायः सभी नारियां उसे एक ही सलाह देतीं, 'कुशल का विवाह कर दो मांजी। विवाह का बन्धन आदमी को बड़ा प्यारा लगता है। आजकल देर से विवाह करने की जो रीति चल पड़ी है उस कारण भी सत्ता हाथ से निकल जाती है।'

सुशील की मां ने भी यही बात सोच रखी थी। उसके चारों बेटे सगाई कराने से पहले ही भाग गए थे। इसलिए कुशल की सगाई के लिए धूमधाम शुरू हुई। और एक दिन धूप-सी गोरी लड़की देखकर उसे तिलक चढ़ा दिया गया। फिर लगन आया और विवाह की तिथि निश्चित हो गई। कुशल ने एक बार भी आपत्ति नहीं की बल्कि सब काम प्रसन्नचित्त करता रहा। सुशील की मां को त्रिलोक का राज मिला। उसने सुशील के पिता से कहा, 'यह दिन बड़े पुण्य से देखने को मिला है। मैं मन की निकालकर रहूंगी।'

लाला चन्द्रसेन निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति थे। यही वर्ग अक्सर महापुरुषों को जन्म देता है। यही वर्ग बड़ी-बड़ी आशाओं और आकांक्षाओं को लेकर जन्म लेता है, परन्तु साधन के अभाव में घुटी हुई तमन्नाओं का मज़ार बनकर रह जाता है। यही है संघर्षों की क्रीड़ाभूमि और यहीं पर आदमी समझ से सम्पर्क स्थापित करता है। लाला चन्द्रसेन भी समझदार थे और इसी समझदारी को आगे बढ़ाने के लिए उनके पुत्रों ने घर की संकुचित दीवारें तोड़कर खुले विश्व में आश्रय लिया था। पुत्रों के जाने का दर्द उन्हें भी था, पर पुरुष थे, पिता थे। पत्नी की बात सुनकर वे हंसे, 'मैं कब मना करता हूं।'

सच तो यह है, उनके भीतर भी आकांक्षाएं आग्रह कर रही थीं। पहला विवाह है, ऐसा हो जिसे सब याद रखें। इसलिए उन्होंने बढ़िया अंग्रेज़ी बाजे का आर्डर दिया। भोज की व्यवस्था देश की हालत को देखते हुए सीमित थी,

परन्तु जितनी थी उससे बड़े-बड़े धनियों को ईर्ष्या हो सकती थी। मोठी तश्तरी में बड़ी-बड़ी आठ मिठाइयां। पूरे पाव-भर तोल की नमकीन तश्तरी। डाल्डा के युग में उन्होंने गांव-गांव घूमकर घी इकट्ठा किया था। वे कहते, 'या तो करो नहीं। करो तो ऐसा करो कि याद ही आती रहे।'

भोज का दिन आया। सब कुछ तैयार था। केवल साग बनने थे और कचौरियां उतरनी थीं मुंह अंधेरे से ही हलवाइयों ने शोर मचाया। अन्दर से और भी वेग से हल्दी चढ़ाने का कोलाहल उठा। लालाजी ने आकर कहा, 'अरे भई! क्या देर है? मसाला निकालो और सबको साग काटने पर बैठा दो।'

उतने ही वेग से सुशील की मां चीखी, 'अजी कुशल को भेजो, हल्दी चढ़ानी है।'

'ओ हो भाई, कितनी देर है?'

'देर कुशल की है। उसे भेजो, बस।'

'कुशल कहां है?' 'कुशल यहां था', 'कुशल वहां होगा' क्षण-भर में एक और गगनभेदी कोलाहल उठा। ऐसा कि हल्दी और हलवाई की आवाज़ उसमें डूबकर रह गई। उसीमें डूब गया कुशल। बहुत देर बाद पता लग पाया कि वह पिछली रात ही कहीं चला गया है। उसके बिस्तरे पर एक पत्र पाया गया था। पढ़ने से पूर्व ही मां समझ गई कि कुशल भी भाइयों की राह का राही बना। वह रोई नहीं एक आंसू भी नहीं आया आंखों में। लोगों ने कहा, 'ढूंढ़ो!'

लाला चन्द्रसेन धीरे से बोले, 'व्यर्थ है।'

'क्यों?'

'जो रहना नहीं चाहता उसे रोकने की चेष्टा करना उसे और खोना है।'

सुनकर सब स्तम्भित हो आए। वे जैसे अपने से बोलते हों, 'मैंने गलती की जो उसे बांधना चाहा। उससे कहता—बेटा! तू भी जा, दुनिया को देख, पहचान। मेरा जो कर्तव्य था वह मैंने यथाशक्ति पूरा कर दिया। पाल-पोस तुझे सोचने-समझने योग्य बना दिया।'

सुशील की मां ने यह सब सुना तो तड़प उठी; बोली, 'आखिर वे तुम्हारे ही बेटे तो हैं।'

'मेरे।' वे हंसे, 'मेरा तो मैं भी नहीं हूं। वे क्या होते।'

बहस आगे बढ़ी और आंसुओं की अबाध गति में उसका अन्त हुआ। अन्त

हुआ यह कहना गलत है। अन्तिम छोर की तरह उनका सबसे छोटा बेटा सुशील अभी शेष था। पन्द्रह वर्ष का वह सुन्दर बालक सेब की तरह लाल और फूल की तरह खिला हुआ था। उसकी हंसी में सुगन्ध थी, पर बड़े भाई के तिलक के दिन उसे ज़ो ज्वर चढ़ा था वह उतरने से बराबर इन्कार कर रहा था। विवाह में लगे हुए परिवार में उसे कोई बहुत महत्त्व नहीं दिया गया पर अब जब हल्दी और हलवाई की बात फैलकर मिट गई तो मां ने सुशील की पट्टी का सहारा लिया। देखा—सन्ध्या होते-होते उसका सेब-सा लाल मुख अंगार-सा दहक उठा है। आंखें मुंदी जाती हैं।

तब पछाड़ खाकर मां ने डाक्टर का दामन पकड़ा, 'डाक्टर, मेरा सब कुछ ले लो पर इसे बचा दो।'

सान्त्वना-भरे स्वर में डाक्टर बोला, 'घबराइए नहीं! बुखार है। वक्त पर उतरेगा।'

'उतर जाएगा?' पागल-सी मां ने पूछा।

'हां, हां।'

'कब?'

'यही सात-आठ दिन में।'

लेकिन आठ क्या, अट्ठाईस दिन बीत जाने पर भी बुखार ने जाने का नाम नहीं लिया। एक बार बीच में लगा-सा था कि बुखार टूट चला है पर तीसरे दिन ही उसने दूने वेग से आक्रमण कर दिया। मां रोते-रोते संज्ञाहीन-सी हो गई। डाक्टर मनुष्य था, उसने मां की करुणा को समझा। बोला, 'मां! यह बुखार इकहत्तर दिन तक चलता रह सकता है। इसकी दवा कुछ नहीं होती केवल रोगी की देखभाल से ठीक होता है।'

मां ने कहा, 'आप जैसे कहते हैं वैसे ही मैं करती हूं।'

'ठीक है। अभी और करे जाइए। आजकल में बुखार टूटने ही वाला है। प्रसन्न रहिए और रोगी को प्रसन्न रखिए, जानता हूं यह कठिन है, पर यह भी जानता हूं कि बेटे के लिए आप सब कुछ कर सकती हैं। चार-पांच दिन की बात है।'

डाक्टर ने ठीक कहा था। पांचवें दिन बुखार टूट गया। सुशील जितना शरीर से स्वस्थ था, मन भी उसका उतना ही दृढ़ था। रंग लौटते देर न लगी।

मां का मन खिल-खिल आया। पिता की चिन्ता भी कम हुई। सुशील ने बीमारी में ही पिता से प्रतिज्ञा करवा ली थी कि स्वस्थ हो जाने पर उसे कालेज भेजेंगे। सो अच्छा होते-होते एक दिन उसने कहा, 'पिताजी, कालेज खुलने को एक सप्ताह रह गया है, मेरी फीस भेज दो न।'

पिता ने जवाब दिया, 'कल शहर जाकर मैं सब ठीक कर आऊंगा।'

तब मां ने धीरे से इतना ही कहा, 'बेटा! पहले ठीक तो होजा, फिर जाने की बात सोचना।'

सुशील मुस्कराया, 'मां! तुम सदा शंका करती रहती हो। मैं अब बिलकुल ठीक हूं। देखना अगले सप्ताह कालेज जाऊंगा। डाक्टर से पूछ देखो···।'

डाक्टर ने हंसते हुए उसका अनुमोदन किया, 'हां, हां, तुम बिलकुल ठीक होकर एक सप्ताह में शहर जा सकोगे, परन्तु भोजन का विशेष ध्यान रखना होगा।'

'जी, मैं वही खाता हूं जो आप बताते हैं।'

'तुम सचमुच एक आदर्श रोगी हो। तभी तो बार-बार रोग को पछाड़कर अच्छे हो जाते हो। हां, कल मैं तुम्हारे लिए टानिक लाऊंगा।'

यह कह डाक्टर उठे। फिर एकाएक बोले, 'पर सुशील! भगवान के लिए अब बुखार को न्यौता न दे बैठना। समझे, शरीर के शत्रु से ऐसी मित्रता ठीक नहीं है।'

बात हंसाने के लिए कही गई थी, सब हंस पड़े। पर अगले दिन अचानक क्या हुआ कि सवेरा होते न होते सुशील जाड़े से कांपने लगा। ज्वर का आक्रमण हो चुका था; तापमान देखा तो १०५! चिन्तातुर डाक्टर ने बहुत देर तक गम्भीरता से जांच की, कहा 'इस बार टाइफाइड के साथ मलेरिया भी है।'

शान्त-गम्भीर पिता ने उत्तेजित होकर पूछा, 'डाक्टर, आखिर यह क्या है?'

डाक्टर ने पिता के कन्धे को थपथपाया, 'चिन्ता मत करें। सब कुछ ठीक होगा। दुःख इतना ही है कि सुशील महाशय अगले सप्ताह कालेज न जा सकेंगे।'

लगभग संज्ञाहीन होने पर भी कालेज का नाम सुनते ही उसने आंखें खोल दीं। बोला, 'मैं कालेज अवश्य जाऊंगा। पांच-छः दिन की देर हो जाएगी तो

क्या है ? पिताजी ! आप मेरी फीस अवश्य भेज दीजिए ।'

पिता ने कहा, 'भेज दूंगा, पर तुम्हें अपना ध्यान रखना चाहिए ।'

सुशील ने नहीं सुना। वह बोला, 'पिताजी ! मैं डाक्टर बनूंगा ।'

'अवश्य बनना ।'

आगे उससे बोला नहीं गया ।

दिन पर दिन वह दुर्बल होता चला गया । सूइयों से उसका शरीर बिंध गया, कड़वी-तीखी दवाइयों से उसका मन चिड़चिड़ा हो आया, तो भी इक्कीस दिन के बाद जब उसका ज्वर उतरा तो उसने यही कहा, 'दीवाली के बाद मैं कालेज जाऊंगा ।'

'बेशक, तुम जा सकोगे,' डाक्टर ने कहा ।

पिता गर्व से बोले, 'परीक्षा-फल शानदार है तुम्हारा, प्रिंसिपल ने विश्वास दिलाया है कि तुम सब कमी पूरी कर लोगे ।'

डाक्टर ने विजयी खिलाड़ी के स्वर में कहा, 'विश्वास में अद्भुत शक्ति होती है सुशील । मैंने बड़े-बड़े रोगियों को विश्वास के बल पर अच्छे होते देखा है ।'

यही विश्वास सुशील की ढाल बन गया । वह जिस तेजी से स्वास्थ्य-लाभ कर रहा था उसे देखे बिना विश्वास नहीं हो सकता । बस हर समय यही रट लगी रहती थी, 'मैं कालेज जाऊंगा । मैं डाक्टर बनूंगा ।'

मां कहती, 'डाक्टर बनकर तू कहां जाएगा ?'

'यहीं रहूंगा, मां ।'

'इसी कस्बे में ?'

'हां, मां । पास में बहुत गांव हैं । उनकी सेहत की देखभाल करना हमारा फर्ज़ है । उनकी सेहत ठीक न रहेगी तो देश की उन्नति कैसे होगी !'

मां सहसा कांपकर बोल उठती, 'देश की चिन्ता करने से पहले अपने को तो देख ।'

सुशील मुस्कराता, 'मैं ही देश हूं, मां ।'

मां अचकचाती-चौंकती, 'आखिर तुम ये बातें कहां से सीखते हो ?'

'तुमसे ।'

'मुझसे ?

'हां ! तुम मां हो ! तुमने ही तो हमारा निर्माण किया है ।'

तब मां हर्ष से फूलती, चिन्ता से दुबलाती । देर तक एकान्त में बैठकर सोचती—ये मेरे बेटे हैं, इनमें मेरा रक्त है पर मुझे तो ये बातें आती ही नहीं । फिर मुझसे ये कैसे सीखते हैं ? सीखते हैं तो मुझे छोड़कर क्यों चले जाते हैं ? क्या सुशील भी चला जाएगा···क्या सुशील भी···सुशील जो मेरी आखिरी सन्तान है, मेरी आखिरी आशा है···।

वह कांपी···सिहर-सिहर उठी···तभी किसीने जैसे कहीं भीतर से पुकारा—सुशील में एक अन्तर है, वह सोचता नहीं बोलता है···।

हां, वह सोचता नहीं, बोलता है; पर बोलता तो वैसी ही बातें है—देश··· आदमी···कर्तव्य और न जाने क्या-क्या···।

उस रात वह देर तक यही दिवा-स्वप्न देखती रही । सवेरे उठी तो देखा—सुशील चादर ताने लेटा है ।

पुकारा, 'सुशील ।'

सुशील नहीं बोला । सशंक आकर उसने चादर के भीतर हाथ डाला जैसे अंगार से छू गया हो । वह कांपकर पीछे हट गई और भर्राए स्वर में कहा, 'सुशील···सुशील !!'

'सुशील चौंककर क्षीण स्वर में बोला, 'क्या है ?'

'कैसा जी है बेटा ?'

'शरीर जल रहा है । छाती में दर्द है । रात शीत लगा था ।'

'छाती में दर्द,' मां पागल-सी उसके पिता के पास दौड़ी, 'देखिए तो सुशील को खूब बुखार चढ़ा है । छाती में दर्द है ।'

जैसे वज्र गिरा हो ! पिता एकदम बोले, 'क्या ?'

'बुखार ।'

'बुखार ! बुखार किसको है ?'

मां ने किंचित् तेज़ होकर कहा, 'जल्दी जाकर डाक्टर को बुलाओ ! सुशील की छाती में दर्द है और बुखार भी तेज़ है ।'

डाक्टर आया । खूब जांच-पड़ताल के बाद उसने कहा, 'निमूनिया है ।'

'निमूनिया !!'—पिता स्तब्ध रह गए ।

'निमूनिया ? मां को जैसे विश्वास नहीं आया।

फिर कई क्षण कोई किसीसे नहीं बोला। आखिर डाक्टर ने शिकायत के स्वर में कहा, 'मैं कहता हूं, क्या आप इसका बिलकुल ध्यान नहीं रख सकते ? इसे सर्दी लगी है।'

रुंधे स्वर में मां ने उत्तर दिया, 'डाक्टर ! रात को बार-बार उठकर मैं उसे कपड़ा ओढ़ाती हूं।'

'दवा कौन देता है ?'

'मैं देती हूं।'

'ठीक समय पर ?'

'आप सुशील से पूछ लीजिए।'

डाक्टर ने दोनों हाथ हवा में हिलाए; कहा, 'कुछ समझ में नहीं आता। जैसे ही रोगी स्वास्थ्य-लाभ करता है, रोग उसे फिर आ दबोचता है। अच्छा, मैं पेन्सीलीन की सूइयां लगाता हूं।'

कई दिन तक डाक्टर हर चार घण्टे के बाद सूइयां लगाता रहा। उन दिनों बेहोश-सी मां ने न जाने कितनी निद्राहीन रातें बेटे के बिस्तर के पास बैठकर काटीं। ऐसी देखभाल की कि सब अश-अश कर उठे। पड़ोसियों ने कहा, 'मां ऐसा न करेगी तो कौन करेगा और फिर वह मां, जिसके बेटे एक के बाद एक उसे छोड़कर चले गए हों।'

'हां जी ! वह तो जान भी दे दे तो थोड़ी है उसके लिए।'

'जान ही तो वह दे रही है।'

'बेचारी ने पिछले जन्म में न जाने क्या पाप किए थे ?'

'पाप क्या जी, आजकल की तो औलाद ही निराली है। कहते हैं बेटा मां-बाप का नहीं होता, देश का होता है।'

'हां जी ! यही बात है। भला कोई पूछे उनसे, तुम्हें पाल-पोसकर किसने बड़ा किया है, देश ने या मां ने। तुम्हारे गू-मूत कितने उठाए हैं, देश ने या मां ने ?'

उनमें कुछ युवतियां भी थीं। एक युवती शहर में रहकर पढ़ी थी; वह बोली, 'और तो मैं कुछ नहीं, जानती, पर आदमी होता देश के लिए ही है।'

जैसे यह युद्ध की चुनौती थी। फिर तो घण्टों क्या दिनों यही चर्चा

घर-घर और गली-गली का विषय बनी रही ! यहां तक कि सुशील फिर अच्छा होने लगा, पर देश और आदमी के रिश्ते का कोई निर्णय नहीं हो सका। आखिर डाक्टर ने एक दिन सुशील के पिता को बुलाकर कहा, 'इस बार सुशील की देखभाल विशेष रूप से करनी होगी। यदि अब रोग ने आक्रमण कर दिया तो…'

डाक्टर ने जान-बूझकर वाक्य पूरा नहीं किया। लाला चन्द्रसेन बोले, 'जानता हूं डाक्टर, जानता हूं।'

'यही समय है जब रोग आक्रमण करता है।'

'जी, हमने पूरी तैयारी कर ली है। बारी-बारी से रात को जागने का प्रोग्राम है, उसकी एक ममेरी बहिन को भी बुला भेजा है।'

क्षण-भर डाक्टर ने शून्य में दृष्टिपात करके कहा, 'दो-चार दिन मैं भी रहना चाहूंगा।'

'आप !'

'हां, मैं।'

करुण स्वर में लाला चन्द्रसेन बोले, 'डाक्टर ! आपने क्या नहीं किया ! आपकी कृपा से ही सुशील बार-बार मौत के मुंह में जाकर लौटा है। आप अब…'

डाक्टर ने टोक दिया, 'मैं रोगी का अध्ययन करना चाहता हूं।'

'जी।'

'और वह भी कुछ दूर से।'

आपका मतलब ?'

'मतलब यह है कि मैं आपके कमरे में रहकर सुशील की देखभाल करूंगा ; और हां, यह बात किसीसे कहिए नहीं ! मां से भी नहीं।'

लालाजी का सिर चकरा उठा पहले तो, पर गर्व भी कम नहीं हुआ। घर आकर यह बात वे सुशील की मां से कहते-कहते तनिक ही बचे। 'आज डाक्टर कहते थे…' इतना कहकर जैसे उन्हें होश आया। चुप हो गए।

सुशील की मां बोली, 'डाक्टर क्या कहते थे ?'

'यही' उन्होंने कुछ याद करते हुए कहा, 'कि मैं आज गांव जा रहा हूं। सुशील को लौटकर रात के समय देखूंगा।'

फिर करुण स्वर में बोले, 'कितना भला डाक्टर है।'

'भगवान का रूप है', मां ने गद्‌गद स्वर में कहा, 'हमें तो वही जिला रहा है।'

उसने यह बात सच्चे मन से कही थी। दोनों पति-पत्नी तब देर तक भले आदमियों की चर्चा करते रहे! फिर दिन बीत गया। थके हुए जीवन को सहलाने के लिए रात आ पहुंची। अंधकार में दृष्टि नहीं है, पर शान्ति अवश्य है। उसी शान्त वातावरण में डाक्टर आए। सुशील को गुदगुदाया, हंसाया, दवा बताई और लौट गए। परन्तु अपने घर नहीं, पास के कमरे में। लाला चन्द्रसेन वहीं रहे, मां भी वहीं थी, सुशील को नींद आ गई। मां ने लैम्प बुझा दिया, दीया जलता रहा। उसका धुंधला पर शीतल प्रकाश तन-मन दोनों को सुखकारी था। कुछ देर में लाला चन्द्रसेन उठे, बोले, 'जब तुम सोने लगो तो मुझे पुकार लेना।'

और वे भी चले गए। धीरे-धीरे चारों ओर शान्ति छा गई। सुशील के पास बैठी मां की पलकें भारी हुईं और फिर झुक गईं। पर डाक्टर की आंखों में नींद नहीं थी। वे कभी कुर्सी पर बैठे रहते, कभी टहलते, कभी धीरे से खिड़की में से देख लेते। लालाजी उत्सुक उत्तेजित उन्हें देखते और पूछ बैठते, 'डाक्टर! कोई बात देखी?'

डाक्टर मुस्कराता—'आप चिन्ता न करें।'

और फिरसन्नाटा; किसीके खखारने और चलने का शब्द; दूर कहीं गीदड़ों की हू-हा, और फिर मौन; डाक्टर की धीमी पदचाप; फिर एकाएक कहीं कुत्तों की भौं-भौं! दीवार की घड़ी ने दो बजा दिए। तभी सहसा डाक्टर चौंक उठे। उन्होंने धीरे से लालाजी को जगाया, 'हां-हां, बोलिए नहीं! चुपचाप मेरे पीछे खिड़की के पास चले आइए।'

'क्या है?'

'आ जाइए चुपचाप।'

दोनों ने हतप्रभ देखा—धुंधले प्रकाश में एक मूर्ति धीरे-धीरे सुशील की खाट के पास पहुंची है। उसने कई क्षण चुपचाप सुशील के मुख को देखा, फिर चूमा, फिर धीरे-धीरे कांपते हाथों से चादर उतार दी। सुशील एक बार खांसा, फिर पैरों को पेट में समेट लिया। छाया-मूर्ति पीछे हटी। मेज़ पर दवा की शीशी रखी थी, उसे उठाया और चिलमची में फेंक दिया।

चित्रलिखित-सा डाक्टर बोला, 'देखा ?'

चन्द्रसेन तड़पे, 'डाक्टर ! यह तो सुशील की मां है।'

'हां, आइए !'

'डाक्टर, मैं···मैं···'

'आइए।'

डाक्टर ने आगे बढ़कर सहज भाव से किवाड़ खोले और सुशील के कमरे में चले आए। छाया-मूर्ति ने सहसा मुड़कर देखा, उसके मुंह से एक चीख निकली—'आप···आप···!'

और वह तीव्र वेग से कांपती हुई पीछे हटी, हटती गई; कांपती गई और फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ी। लाला चन्द्रसेन उधर दौड़े, इधर डाक्टर ने सबसे पहले खिड़की बन्द की। फिर सुशील को कपड़ा उढ़ाया। तब सुशील की मां की ओर झुके। वह बेहोशी में बड़बड़ा रही थी—सुशील अच्छा हो रहा है··· वह कालेज जाएगा—डाक्टर बनेगा···और फिर नहीं लौटेगा···उसके भाई भी नहीं लौटे थे···नहीं, नहीं, वह शहर नहीं जा सकता···वह मुझे नहीं छोड़ सकता···

डाक्टर ने सुना, पिता ने सुना, दोनों ने एक-दूसरे को देखा। पिता सिर से पैर तक सिहर उठे, मुंह से इतना ही निकला, 'डाक्टर···!'

डाक्टर ने गम्भीर स्वर में कहा, 'मुझे यही डर था।'

'मां का स्नेह पुत्र का काल बना हुआ है डाक्टर।'

सहसा डाक्टर का स्वर कठोर हो उठा, उन्होंने कहा, 'स्नेह नहीं, यह मनुष्य का स्वार्थ है; जो प्रतिक्षण मनुष्यता की हत्या करता रहता है।'

पिता ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। मां का स्वर निरन्तर शिथिल हो रहा था इतना कि मात्र फुसफुसाहट शेष रही थी और सुशील सो रहा था—शान्त, निर्द्वन्द्व।

सम्बल

यात्रा करने का मुझे शौक है। किसी यात्रा में ऊपर की बर्थ पर पड़ा सो रहा था तब एकाएक जागकर सुना कि नीचे की बर्थ पर बैठे हुए दो व्यक्ति बड़े करुण स्वर में किसी व्यक्ति की मृत्यु की चर्चा कर रहे हैं। और इससे भी बढ़कर चर्चा कर रहे हैं उसकी पत्नी की। वह कहानी इतनी मार्मिक थी कि मैं उस रात सो नहीं सका। जब तक उसको अपनी कल्पना के सहारे कागज़ पर नहीं उतार लिया मुझे शान्ति नहीं मिली। जो कुछ कागज़ पर उतारा वह इस कहानी का रूप है।

○

कर्नलसिंह का पूरा नाम सरदार इन्द्रसिंह था। मैं जब पहली बार उनसे मिला था, तो वे आठवीं सिख रेजीमेंट में नये-नये लेफ्टिनेंट बने थे। वे उन व्यक्तियों में थे जो प्रथम प्रभाव में ही सबको अपना बना लेते हैं। सुदृढ़ शरीर, विश्वास-भरे नयन, दाढ़ी-मूंछ कुछ इस प्रकार व्यवस्थित करते कि उनके सैनिक होने में किसीको तनिक भी सन्देह नहीं रहता। उनकी लम्बाई असाधारण थी। सब दृष्टियों से वे सेना के योग्य थे। उनकी मस्ती, उनका दबंगपन और अपने काम के प्रति उनकी भक्ति—ये सब गुण उनको अनायास ही लोकप्रिय बनाने के लिए काफी थे। और सचमुच वे लोकप्रिय थे भी। उनके मित्रों की संख्या असाधारण रूप से अधिक थी। वे मेरे मित्र के मित्र थे और उन्हींके घर पर हमारी पहली मुलाकात हुई थी, पर अलग होने से पूर्व हम दोनों मित्र हो चुके थे। विशेषकर तत्कालीन राजनीतिक अवस्था पर उनके सुलझे हुए विचार जानकर मुझे खुशी हुई थी। मुझे खूब याद है, उन्होंने मुझसे कहा था, 'मैं जानता हूं, हिन्दुस्तान बहुत जल्द आजाद होगा; और तब हमें उसकी रक्षा करने का अवसर मिलेगा।'

मैंने उत्तर दिया, 'आप लोग चाहें तो यह देश क्षण-भर में स्वतन्त्र हो सकता है।'

वे हंसे, 'हो सकता है, पर आज क्या उस स्वतन्त्रता को संभालने के लिए कोई तैयार है ? फिर भी मेरे दोस्त, देशभक्ति के तूफान से सेना अछूती नहीं है। कब क्या होगा, यह कोई नहीं जानता।'

उनके जाने के बाद मैंने अपने मित्र से उनकी प्रशंसा करते हुए कहा, 'तिवारी, तुम्हारे ये नये सैनिक मित्र निस्सन्देह तोप के खाद्यमात्र नहीं हैं।'

तिवारी मुस्कराया, 'सेना के बारे में तुम कांग्रेसवालों ने गलत धारणा बना ली है। तुम समझते हो कि देशभक्ति पर केवल तुम्हारा ही अधिकार है। सिंह से बातें करो तो तुम्हें पता लगेगा कि वह कितना सुलझा हुआ और प्रगतिशील है, परन्तु दुःख यही है कि जहां उसमें इतने गुण हैं वहां उसमें एक बड़ा दुर्गुण भी है।'

'वह क्या ?' मैंने उत्सुकता से पूछा।

'सिंह शराब पीता है।'

'वह तो सभी सैनिक पीते हैं।'

'हां पीते हैं, पर वह कुछ अधिक पीता है।'

'उसकी बातों से और उसके बर्ताव से तो इस बात का आभास नहीं मिलता ?'

'उसका भी एक कारण है।'

'क्या ?'

'उसकी पत्नी।'

'मैं समझा नहीं।'

'मिस्टर सिंह की पत्नी बहुत ही शान्त और भली स्त्री है। मैंने कभी उसे अपने पति से लड़ते नहीं देखा। शराब पीकर जब वह अंट-शंट बकने लगता है तब वही उसकी संभाल रखती है। वह उसके पीछे-पीछे जाती है और उन लोगों से, जिनके साथ उसका पति नशे में दुर्व्यवहार कर बैठता है, क्षमा मांगती है। सच कहता हूं कान्त, वह एक सच्चे मित्र की तरह, उस मित्र की तरह जो एक-साथ मां और सखा का हृदय रखता है, सिंह की देखभाल करती है।'

'और फिर भी मिस्टर सिंह पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ?'

'पड़ता है, कान्त। तुमने अभी तो कहा था कि उसकी बातों और बर्ताव से इस बात का आभास नहीं मिलता। यह सब उसकी पत्नी के कारण ही है।

सिंह ने स्वयं कई बार मुझसे कहा है—मैं शराब छोड़ना चाहता हूं।'

'फिर ?'

'पर नहीं छोड़ पाता।'

'क्यों ?'

'क्योंकि यदि उसने शराब पीनी छोड़ दी, तो उसकी पत्नी उससे प्रेम करना छोड़ देगी।'

सहसा मैं ठहाका मारकर हंस पड़ा था। तिवारी ने भी उसमें पूरा योग दिया। पर कुछ भी हो, मिस्टर सिंह मुझे याद रखने लायक व्यक्ति जान पड़े। वहां से लौट आने के बाद भी मैं अपने मित्र से अक्सर उनकी कुशल-क्षेम पूछ लेता। तिवारी के पत्रों में और सब तो ठीक रहता पर एक शिकायत वह बराबर करता—वह भला आदमी दिन पर दिन अधिक शराब पीने लगा है। मुझे भी मिस्टर सिंह से कुछ उन्सियत हो गई थी, लिहाज़ा यह बात मुझे भी चुभती। एक-आध बार मैंने यह बात उसे लिखी भी, पर वह बड़ी खुशी से उस बात को उड़ा गया और मुझे किसी लम्बे राजनीतिक विवाद में फंसाकर, उस उपेक्षा को महसूस भी नहीं करने दिया।

पहली मुलाकात के लगभग तीन वर्ष बाद मुझे उनसे दुबारा मिलने का अवसर मिला। मैं तब अपने मित्र के घर बैठा हुआ उन्हींकी चर्चा कर रहा था कि पास के मकान में शोर सुनाई पड़ा। तिवारी ने एकदम कहा, 'कान्त, सिंह आया है और उसने शराब पी हुई है। चलो तुम्हें मिला दूं।'

यह कहकर वह उठा और बाहर चला गया। चुम्बक की तरह उसके पीछे-पीछे बाहर आकर क्या देखता हूं कि मिस्टर सिंह मतवाले की तरह एक फिटन को खींचे ला रहे हैं। उनके नेत्र रक्तवर्ण हैं। साफा खुलकर कन्धों पर खिसक आने का प्रयत्न कर रहा है, और उसके बीच में केशों में लगा हुआ कंघा साफ दिखाई दे रहा है। वे निरन्तर कह रहे हैं, 'साले चोर! दिन-दहाड़े डाका डालते हैं। तुम्हारे बाप की गाड़ी है, जो उठे और खोल लाए! मैं एक-एक को समझ लूंगा! एक-एक को शूट न कर दिया तो सिंह न कहना!'

और घरवाले खड़े हैं मौन, स्थिर, शान्त—जैसे यह जो हो रहा है वह होना ही है। केवल तिवारी ने आगे बढ़कर कहा, 'मिस्टर सिंह, कौन ले आया आपकी गाड़ी ?'

मिस्टर सिंह ने गाड़ी रोककर घोड़े की तरफ ध्यान दिया। उसे पकड़कर फिटन में जोड़ा और फिर, जैसे तिवारी के प्रश्नों को उन्होंने सुना ही नहीं, वे गाड़ी पर जा बैठे। चलते-चलते बोले, 'है कोई माई का लाल जो मुझे रोके ?'

और सचमुच किसीने उन्हें नहीं रोका। वे शान से घोड़े को हांककर ले गए। अचरज की बात यह कि तनिक भी नहीं लड़खड़ाए, बल्कि गाड़ी चलने पर वे मुड़े और मिस्टर विज से जिनकी गराज से उन्होंने गाड़ी निकाली थी, कहा, 'ओए विज ! इस बार माफ करता हूं, आइन्दा ऐसा किया तो गोली दाग दूंगा, गोली, समझा ? कमीना कहीं का ! गाड़ी खोल लाया !'

उनके जाने के कई क्षण बाद तक हम सब वहीं खड़े रहे, फिर बड़ी गम्भीरता से गरदन हिलाकर कुछ लोग चले गए। एक बन्धु ने हंसकर विज से कहा, 'वाह विज ! तुमने खूब गाड़ी खरीदी। कैसे आराम से ले गया और अब कहीं तोड़कर रख देगा !'

विज ने गरदन हिलाकर कहा, 'यही तो बात है पर कुछ कर सकना भी तो मुमकिन नहीं है। सरदारनी से डर लगता है।'

उन बन्धु ने हां मिलाई, बोले, 'कुछ समझ में नहीं आता। सरदारनी इतनी भली औरत है, पर इसकी शराब नहीं छुड़ा सकती।'

'नामुमकिन ! एकदम नामुमकिन ! मैं आज तुमसे कहे देता हूं', विज ने कुछ कठोरता से कहा, 'यह शराब एक दिन इसको पीकर छोड़ेगी। बिलकुल निचोड़कर रख देगी !'

पर वह अपनी बात पूरी कर पाते इसके पहले ही एक नारी ने वहां प्रवेश किया। देखा वह अभी युवती है, और साधारणतया पंजाबी नारियां जितनी सुन्दर होती हैं उतनी सुन्दर भी है। सलवार, सलूका और दुपट्टा सब श्वेत रंग के हैं। पर वह कुछ अशान्त दिखाई देती है। व्याकुलता से पूर्ण उसके बड़े-बड़े नेत्र किसीको खोज रहे हैं। उसने आते ही पूछा, 'क्या सरदारजी इधर आए थे ?'

एक बन्धु बोले, 'जी हां आए थे।'

दूसरे ने कहा, 'और वे मिस्टर विज की गाड़ी खोलकर ले गए।'

'ओह !' उसने दुःखित होकर जवाब दिया, 'मुझे इसी बात का डर था।

वे किधर गए हैं ?'

उन बन्धु ने गाड़ी जाने की दिशा में संकेत करते हुए कहा, 'उधर।'

वह शीघ्रता से आगे बढ़ी, फिर मुड़ी और विज से बोली 'मिस्टर विज, मुझे बहुत अफसोस है। ईश्वर के लिए आप कोई खयाल न कीजिए ! मैं बहुत जल्दी आपकी गाड़ी ले आती हूं।'

मिस्टर विज शीघ्रता से बोले, 'नहीं-नहीं, कोई बात नहीं, आप उन्हें संभालें, कहीं चोट न खा जाएं।'

सरदारनी उसकी बात पूरी होने से पहले ही मोड़ पर गायब हो चुकी थी। कुछ लोग उसके पीछे-पीछे गए, कुछ वहीं खड़े रहे। मैंने तिवारी से पूछा, 'क्या वे हमेशा इसी तरह कहते हैं ?'

तिवारी बोला, 'इससे भी अधिक, कान्त ! वह तो सरदारनी उसे अन्दर रखती है, पर जब कभी वह बाहर आ जाता है—और वह अकसर बाहर आ जाता है—तब एक आफत बरपा कर देता है। मार-पीट तक हो जाती है। तब बेचारी सरदारनी सबसे क्षमा-याचना करती फिरती है।'

'बुरी बुरी बात है', मैंने दुःखी होकर कहा।

'बसी तो है ही। आज ही देखो, वह विज की गाड़ी खोलकर ले गया। वास्तव में यह गाड़ा उसीकी थी, और कल ही उसने इसे विज के हाथ बेचा था।'

वह अपनी बात पूरी करे कि गाड़ी उधर ही आती दिखाई दी। सरदारनी उसे चला रही थी और सरदार पास हो सीट पर उसका सहारा लिए बैठे थे। असल में उन्होंने अपने शरीर का सारा बोझ उसीपर डाल रखा था। विज के सामने आते ही वे जैसे कूदने को हुए। वे लड़ाई की चुनौती दे रहे थे, पर सरदारनी ने एक हाथ से उन्हें अपनी ओर खींच लिया। बोली, 'सुनिए तो, वह गाड़ी नहीं मांगता।'

'नहीं मांगता ?'

'नहीं जी ! वह तो इसे एक दिन के लिए मुझसे मांगकर लाया था। आप बैठे रहिए।'

सरदार ने एक बार फिर बन्धन तोड़ने का प्रयत्न किया, पर सरदारनी ने पूरी शक्ति से उन्हें रोके रखा और शीघ्रता से गाड़ी चलाकर ले गई। चली

गई तो लोग जगे और तरह-तरह की बातें करने लगे। किसीने सहानुभूति प्रकट की, किसीने क्रोध। जो जानते थे वे दुःखी थे, जो अपरिचित थे वे क्रुद्ध। तिवारी ने गरदन हिलाकर कहा, 'बेचारी सरदारनी! वह न हो तो, क्या हो!'

मैं जैसे सो रहा था, एकदम जगकर बोला, 'क्यों तिवारी, मिस्टर सिंह को सब कुछ याद रहता है?'

'प्रायः नहीं रहता।'

'दूसरे लोग तो चर्चा करते होंगे?'

'कोई विशेष चर्चा नहीं होती, क्योंकि उसकी पत्नी का व्यवहार बहुत सुन्दर है। बेचारी घर-घर जाकर सबसे क्षमा-याचना करती है। इसके अतिरिक्त सिंह स्वयं अपने काम में बड़ा चतुर है।'

बातें करते-करते हम लोग अन्दर चले आए। अंधेरा हो चला था। मैं अपने दूसरे काम में लग गया, पर कोई एक घण्टे बाद मैंने फिर सरदारनी की आवाज़ सुनी। कुतूहल के कारण मैं अकेला ही बाहर आ गया, देखता हूं—सरदारनी गाड़ी लिए खड़ी है।

तभी मिस्टर विज ने बाहर आकर कहा, 'आपने अभी क्यों तकलीफ की? सवेरे आ जाती।'

'तकलीफ तो आपको हुई मिस्टर विज! सचमुच मुझे बहुत दुःख है। आप कृपाकर उन्हें क्षमा कर दीजिए।'

सरदारनी ने बड़ी ही विनम्र और तरल वाणी में ये शब्द कहे। फिर वह बोली, 'क्या करूं? बहुत समझाती हूं। वे भी बहुत कोशिश करते हैं; पर वक्त आने पर वे जैसे बेबस हो जाते हैं। आप कुछ ध्यान न कीजिए, मिस्टर विज! अब ऐसा नहीं होगा।'

मिस्टर विज ने कहा, 'नहीं-नहीं, मिसेज़ सिंह! मैं सब कुछ जानता हूं। मुझे कुछ खयाल नहीं है।'

'आपने क्षमा कर दिया न?'

मिस्टर विज हंस पड़े, 'जी हां!'

मिसेज़ सिंह मुझसे परिचित थीं। वे मेरे पास आईं। मैंने पूछा, 'मिस्टर सिंह अब तो ठीक हैं?'

'हां, अब वे सो रहे हैं।'

'वे बहुत भाग्यशाली हैं।'

'क्या ?'

'जी हां ! वे बहुत भाग्यशाली हैं ! उन्हें आप जैसी पत्नी मिली हैं। नहीं तो…!'

'नहीं-नहीं', मिसेज़ सिंह ने शीघ्रता से कहा, 'उनमें एक यही कमज़ोरी है, वैसे वे लाखों में एक हैं।'

'जानता हूं मिसेज़ सिंह, जानता हूं; इस देश को मिस्टर सिंह से बहुत आशाएं हैं।'

'वे अब कप्तान होनेवाले हैं', मिसेज़ सिंह मुस्कराईं।

'हां, तिवारी ने मुझे बताया था। मैं कल आकर उन्हें बधाई दूंगा। पर मिसेज सिंह !'

मैं झिझका। मेरा साहस जवाब दे रहा था। मिसेज़ सिंह अचरज से मुझे देखते हुए बोलीं, 'कहिए।'

'आप कुछ दिन उनसे अलग रह सकें तो अच्छा हो।'

मैं एकदम बोला और चुप हो गया। पर मिसेज सिंह उसी शान्तभाव से बोलीं, 'ओह, मिस्टर कान्त ! आप मेरे पति को नहीं जानते। मैं जानती हूं, तब तो वे बिल्कुल बिगड़ जाएंगे। बिल्कुल। कोई देखनेवाला नहीं रहेगा।'

मैंने सिर हिलाया, 'हां, यह तो है, फिर भी……'

'मैं कहती हूं, मिस्टर कान्त' मिसेज़ सिंह ने मेरी बात सुने बिना और भी बलपूर्वक कहा, 'मेरे कारण और लोग भी उनका ध्यान रखते हैं। मैं नहीं रहूंगी, तो सब मज़ाक उड़ाने लगेंगे।'

मैं कुछ जवाब न दे सका। 'वस्तुतः मिसेज़ सिंह ने मुझे जवाब देने का अवसर ही नहीं दिया। वे बोलीं, 'हां, अब वे कप्तान होनेवाले हैं। शायद कुछ परिवर्तन हो।'

मुझे हां में हां मिलानी पड़ी और दो-चार इधर-उधर की बातें करके वे चली गईं। मुझे भी लौटना था। अचानक तार आ जाने के कारण मैं मिस्टर सिंह से मिल भी नहीं सका। तिवारी के पत्रों से कभी-कभी उनका समाचार मिलता रहता कि वे कप्तान बन चुके हैं। और शराब पीने की उनकी आदत

उनके गुणों के साथ प्रगति कर रही है। इत्यादि-इत्यादि। यह भी पता लगा कि उनके इस अवगुण का उनके गुणों पर अभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, फिर भी मुझे उनकी अवस्था पर खेद था और मैं समझता था कि किसी भी दिन उनका पतन हो सकता है। पर मैं किसी निर्णय पर पहुंचूं इससे पूर्व पता लगा कैप्टन सिंह दूर दक्षिण में चले गए हैं। फिर बहुत दिन बीत गए, उनका कोई समाचार नहीं मिला। परेशान होकर मैं तिवारी को पत्र लिखने ही वाला था कि उसका एक लम्बा पत्र मुझे मिला। उसने लिखा था, 'कान्त, तुम्हें आज मैं एक बहुत बुरी खबर दे रहा हूं, गत सप्ताह सिंह की पत्नी का देहान्त हो गया।'

मुझे विश्वास नहीं आया। मैंने उस पत्र को फिर पढ़ा। फिर-फिर पढ़ा। मिसेज़ सिंह निस्संदेह मर चुकी थीं। तब मेरे नेत्रों के सामने उस अद्भुत नारी का चित्र उभर आया। मेरे हृदय पर अंकित उसकी सुशीलता, सुदृढ़ता और शालीनता टीसने लगी। मैं रो पड़ा। लगा, मानो मेरा अपना प्रिय चल बसा है। जिन परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हुई थी उससे मुझे और भी सदमा पहुंचा। बहुत दिन बाद तिवारी और सिंह आदि अनेक मित्र एक स्थान पर मिले थे। उन्होंने एक दिन नदी किनारे पिकनिक करने का प्रबन्ध किया। तिवारी ने लिखा था, 'मिसेज़ सिंह ने सब प्रबन्ध अपने-आप किया। खाने-पीने का सारा सामान अपने-आप बनाया और बनवाया। सब लोग गन्तव्य स्थान पर पहुंच चुके थे। अन्तिम फेरे में मैं, सिंह और मिसेज़ सिंह सामान लेकर जा रहे थे। मैं जीप चला रहा था। मस्ती का आलम था। सब कहकहे लगा रहे थे। कैप्टेन सिंह ने उस दिन शराब न पीने की प्रतिज्ञा की थी। इस बात को लेकर हम लोगों में विशेष मज़ाक हो रहा था कि तभी मैंने देखा—सड़क पर जानेवाले कारवां में से दो ऊंट बिगड़ गए हैं। मैं चौंका और मैंने जीप को बचाने की कोशिश की, पर जिधर मैं मुड़ा उधर ही ऊंट मुड़े। मैं दूसरी ओर मुड़ा पर ऊंटों ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा परिणाम यह हुआ कि मैं जीप को न संभाल सका। वह एक पेड़ से टकराकर उलट गई। मिसेज़ सिंह के अतिरिक्त सब लोग दूर जा पड़े। पर वे नीचे फंस गईं और कुचली गईं। चोट सबको लगी, पर वह ज़रा भी भयंकर नहीं थी। किसी तरह हम लोगों ने मिसेज़ सिंह को अस्पताल पहुंचाया। वे तब बेहोश हो गई थीं और उसी बेहोशी में तीसरे

दिन उनकी मृत्यु हो गई। कान्त, मैं तुमसे क्या कहूं ! तुम्हें विश्वास नहीं आएगा। कैप्टन सिंह अपनी पत्नी को बेहद प्रेम करते थे। तुम जानते हो, उनके कोई संतान नहीं थी। उनकी मां ने बार-बार उनसे दूसरा विवाह करने को कहा, पर उन्होंने सदा ही दृढ़ता से ऐसे प्रस्तावों का विरोध किया। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा था—तिवारी ! इस देश को आदमियों की नहीं, प्रेम की ज़रूरत है। मैं भाग्यशाली हूं। मुझे प्रेम मिला है। उसे छोड़कर मैं गुलामों की संख्या बढ़ाऊं। ऊंहूं ! यह कभी नहीं होगा ?—और उन्होंने विवाह नहीं किया। तुम कल्पना कर सकते हो, उन्हें कितना सदमा पहुंचा होगा ! वे प्रस्तर-प्रतिमा बने हुए हैं। यंत्रवत् सब काम करते हैं, पर उनकी आंखों से एक बूंद आंसू भी नहीं टपका है। वज्राघात से जैसे वे पथरा गए हैं। वे किसी से बात करना पसन्द नहीं करते। मानो इस अनहोनी पर उन्हें स्वयं विश्वास नहीं आ रहा। विश्वास तो मुझे भी नहीं आता। और जब मैं यह सोचता हूं कि यह सब मेरे हाथों से हुआ, तो सच कहता हूं मर जाने को जी चाहता है। कल मैं सिंह के पास गया और अपने को रोकने में असमर्थ फूट-फूटकर रो पड़ा। कहा—सिंह, मैंने तुम्हारी पत्नी की हत्या की है। तुम मुझे मार डालो।—वह कुर्सी पर बैठा था। बैठे-बैठे ही बोला—तिवारी, यदि जीप को वाणी मिले तो शायद वह भी यही कहेगी।—और वह चुप हो गया। उसने उस एक वाक्य में बहुत कुछ कह दिया था। मैं कुछ जवाब न दे सका। वही फिर बोला—तिवारी, यह सब क्षणिक आवेश है। कुछ दिन बाद हम-तुम सब कुछ भूल जाएंगे। यहां तक कि मैं फिर शराब पीने लगूंगा और मुझे फिर एक पत्नी मिल जाएगी।'

वह पत्र इसी प्रकार की दार्शनिक-सी लगनेवाली बातों से भरा हुआ था। मैं उस रात बहुत देर तक जागता हुआ उनपर विचार करता रहा। मैंने कैप्टेन सिंह को संवेदना का एक लम्बा पत्र लिखा। मैं स्वयं उनके पास जाना चाहता था, पर कोशिश करने पर भी तब अवकाश न पा सका। उसके कोई तीन महीने बाद मैं उनसे मिलने गया। तब भी वे सदा की तरह शान्त थे। उनके नेत्रों में वही पहले वाली ज्योति विद्यमान थी, परन्तु उसमें प्रवाह नहीं था। शोले-से उठते थे, जैसे धौंकने पर लुहार की भट्ठी में उठते हैं। मुझे देखते ही वे उठ बोले—'आओ कान्त आओ। तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया था, और मैं कहूंगा कि मुझे उससे अपूर्व शान्ति मिली।'

मैंने धीरे-से कहा, 'शान्ति अपने अन्दर है, कैप्टेन। केवल वीर पुरुष उसक उपयोग कर सकते हैं।'

कैप्टेन सिंह मुस्कराए। बोले, 'अपने अन्दर तो सब कुछ होता है कान्त। पर कोई बतानेवाला न हो तो 'दिये तले अंधेरा' वाली बात हो जाती है। सुरजीत इतने वर्ष मेरे साथ रही, पर मैं उसे पहचान नहीं पाया। कभी उसका कहना नहीं माना। सदा शराब पी और उसे तंग किया। अब वह नहीं है, तो चाहता हूं कि शराब न पिऊं।'

और वे हंस पड़े। बोले, 'है न ढोंग? तीन महीने से मैं इस ढोंग को निभा रहा हूं। मैं जानता हूं, मैं एक दिन शादी करूंगा और शराब भी पिऊंगा। पिए बिना रह ही नहीं सकता। फिर भी सोचता हूं, कुछ दिन न पीकर देख लूं। वैसे भी पुरानी शराब में अधिक स्वाद होता है।'

मैं चकित-सा उनकी बात सुन रहा था। बोला, 'आप शराब पिए बिना नहीं रह सकते?'

'रह क्यों नहीं सकता?' वे बोले, 'पर तभी तक जब तक कोई संभालनेवाला न हो। जैसे ही मुझे संभालने वाला मिला, मैं फिर पीने लगूंगा। उसी दिन के लिए मैंने शराब रख छोड़ी है।'

यह कहते-कहते वे उठे और मुझे एक अलमारी के पास ले गए। मैंने देखा उसमें कई बोतलें सुरक्षित ढंग से रखी हुई हैं। उन्होंने हंसकर कहा, 'समय के साथ-साथ इस शराब का मूल्य बढ़ता रहेगा कान्त! एक दिन जब मेरी शादी हो जाएगी, तब मैं इसे पिऊंगा। उस दिन मैं सब कुछ भूल जाऊंगा, सब कुछ। सब लोग भूल जाते हैं। भूलना स्वभाव है।'

मैंने कहा, 'बेशक कैप्टेन, यह सब स्वाभाविक है, और भूलने का स्वभाव न हो तो कोई जिए कैसे?'

'बेशक, बेशक। कोई जिए कैसे? जाने के लिए भूलना ज़रूरी है, बेहद ज़रूरी।' उन्होंने अपूर्व उत्साह से कहा पर दूसरे ही क्षण सहसा उनका स्वर गिरने लगा। वे फिर कुरसी पर आ बैठे। कई क्षण चुप रहे। फिर बोले, 'क्यों, कान्त, कभी-कभी किसीकी याद भी तो मनुष्य की शक्ति बन जाती है? है तो वह आदर्शवाद, और मैं आदर्शवाद को नहीं मानता। पर फिर भी वह शक्तिदायक है।'

मैंने कहा, 'आदर्शवाद के पैर जब धरती पर लग जाते हैं, तब वह शक्ति बन जाता है।'

'क्या मतलब ?'

'यही कि जब मनुष्य आदर्श को जीने लगता है, तब वह बन्धन न होकर सम्बल हो जाता है।'

सहसा उनकी आंखें चमक उठीं। कहा, 'बिलकुल यही बात है, पर प्रश्न जीने का है। बहरहाल, मुझे इन बातों की विशेष चिन्ता नहीं। तुम आ गए तो पूछ लिया, नहीं तो हम सैनिक सदा जीने में विश्वास करते हैं। और अब तो युद्ध के बादल छा रहे हैं, इन बातों को सोचने का अवकाश ही नहीं है।'

उनका कहना ठीक था। तब विश्व में युद्ध की पुकार मची हुई थी। उसके कुछ समय बाद अचानक एक दिन दूसरा विश्व-युद्ध आरंभ हो गया। तब सात साल तक हम एक-दूसरे का कोई समाचार नहीं पा सके। इस बीच में मैं दो बार—तीन वर्ष से कुछ ऊपर सरकार का मेहमान रहा, और सिंह अफ्रीका के रेगिस्तान में शोहरत पाकर लौटे। तिवारी मध्य एशिया में सांस्कृतिक मोर्चे पर डटा हुआ था। १९४७ में जब एक ओर घृणा रक्त उलीच रही थी और दूसरी ओर स्वतन्त्रता की देवी भारत के आंगन में प्रवेश कर रही थी, तब हम सब मित्र एक-दूसरे से मिले। मिस्टर सिंह अब लेफ्टिनेंट कर्नल बन चुके थे और तिवारी मेजर। अचानक एक दिन दिल्ली में उन्होंने मुझे ढूंढ़ निकाला। एक नई दुनिया थी वह, परन्तु सिंह बिलकुल वैसे ही थे। उन्होंने उसी मस्ती से मेरे कन्धों को झकझोरा, 'हलो कान्त ! आप जीत गए। किसी भी कारण से हो, आपको आज़ादी मिली है।' लेकिन, उन्होंने हंसते हुए कहा, 'आप अब अकेले उसकी रक्षा नहीं कर सकते।'

मैंने उसी मस्ती से जवाब दिया, आप जो हैं, आपको अब उसकी रक्षा करनी है।'

'बेशक, बेशक, अब हम और आप एक ही नाव में हैं।'

'लेकिन उस नाव के खिवैया आप हैं।'

'और मार्ग दिखानेवाले आप हैं।'

इस तरह एक-दूसरे की प्रशंसा करके हम सब खूब हंसे। कुछ देर तक इधर-

उधर की बातें करने के बाद मैंने पूछा, 'लेकिन हां, आप सुनाइए न। आपकी शराब का स्वाद कैसा रहा ?'

'शराब ?' वे खूब हंसे, 'बस, अब उसका अन्त आ पहुंचा है। मैं बहुत शीघ्र शादी करनेवाला हूं।'

'अभी नहीं की ?'

'बस अब हुई समझो। वह तो होगी ही। हम लोग ब्रह्मचर्य में विश्वास नहीं करते। वह अप्राकृतिक है।'

और वे फिर हंस पड़े। पर मैंने देखा—उस हंसी में मुक्तता नहीं है। कहीं कुछ अटकाव है, पुरानी मस्ती नहीं, बल्कि जैसे वेदना की लहर उसमें आ मिली है। मैं चुप हो गया और तब बोलने का अधिक काम उन्हींको करना पड़ा, पर जब चलने का समय हुआ तब मैं अपने को रोक न सका। पूछ बैठा, 'क्यों मित्र ! एक बात बताएंगे।'

'पूछिए।'

'क्या आपने इन आठ वर्षों में शराब नहीं पी ?'

फिर वही वेदना-भरी हंसी, 'कैसे पीता ? कोई संभालनेवाला तो था ही नहीं।'

लसके बाद मैंने कुछ नहीं पूछा।

और फिर एक पूरा वर्ष बीत गया। १९४८ का अन्त आ पहुंचा। भारत के भाग्याकाश पर छाए हुए कुहरे के बादल छंटने लगे, पर धुंधलापन अभी शेष था। जैसे सारे देश को एक भय ने जकड़ रखा हो। स्वतन्त्रता का प्रभात सदा पीड़ा देनेवाला होता है। और फिर जिन शर्तों पर हमें स्वतन्त्रता मिली थी, वे तो और भी कष्टप्रद थीं। इसी कारण सेना सुख की सांस न ले सकी। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में फिर युद्ध के बादल उमड़-घुमड़ उठे। उसे फिर लोहा लेना पड़ा। सिंह की रेजिमेंट सबसे आगे थी। प्रतिदिन उसकी बहादुरी के किस्से सुनने को मिलते। हिमाच्छादित गगनचुम्बी पर्वत-शृंगों पर, जहां युगों से मानव के चरण नहीं पड़े थे, वहां वे मृत्युंजय विजय-दुन्दुभि बजाते। जनता सुनती और कहती, 'स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर भारत ने बहुत कुछ खोया, पर नहीं खोया तो उसने सेना के विश्वास को नहीं खोया।'

मैं भी सुनता और गद्गद हो उठता। अपने मित्रों से कहता, 'इस रेजिमेंट

के कर्नल सिंह को मैं जानता हूं। वे मेरे मित्र हैं। वे सदा अपने देश को प्यार करते हैं। वे एक वीर पुरुष हैं।'

और वे सचमुच वीर थे। उन्होंने अपनी वीरता और कुशलता से शत्रु को सीमा तक खदेड़ दिया था। मुझे पूरा विश्वास था कि शीघ्र ही वे सीमा पर आ पहुंचेंगे। पर तभी अचानक एक दिन सवेरे-सवेरे एक मित्र दौड़ते हुए आए। वे हांफते-हांफते बोले, 'कान्त ! तुमने सुना ?'

'मैं चौंका, 'क्या ?'

'कर्नल सिंह मारे गए।'

उत्तेजना से धमनियों में रक्त खौल उठा। विश्वास नहीं आया। बोला, 'क्या कहते हो ?'

और उसके हाथ से अखबार छीन लिया। जहां मित्र ने संकेत किया वहां देखा, लिखा था, 'भारत सरकार को बड़े दुःख से यह सूचना देनी पड़ती है कि पांचवीं सिख रेजिमेंट के कर्नल इन्द्रसिंह कल सन्ध्या को एक अग्रिम टुकड़ी का नेतृत्व करते हुए युद्ध-भूमि में दुश्मन के गोले से मृत्यु को प्राप्त हुए। वे एक वीर सैनिक थे और द्वितीय महायुद्ध में उन्होंने भारतीय सेना को निरन्तर विजय के मार्ग पर बढ़ाया था। साम्प्रदायिक उत्पात के दिनों में उन्होंने जिस साहस और शौर्य का परिचय दिया था, भारत सरकार उसकी कदर करती है। वर्तमान युद्ध में भी उन्होंने जिस तत्परता, निर्भयता और कर्त्तव्य-परायणता से विजय पर विजय प्राप्त की वह युग-युग तक सेना का मार्ग-प्रदर्शन करती रहेगी।

'स्वर्गीय कर्नल १० वर्ष से विधुर थे, और इस बीच में उन्होंने कभी शराब नहीं छुई। उनका चरित्र बहुत ऊंचा था और रहन-सहन बहुत सादा। वे ज़मीन पर सोते थे और सदा दूसरों की सहायता करते रहते थे। वे बहुत लोकप्रिय थे।

'वे अपने पीछे शोक मनाने के लिए अपने माता-पिता के अतिरिक्त असंख्य मित्रों को छोड़ गए हैं।'

पढ़ चुका तो मेरा गला भर आया। आंसुओं ने मेरी दृष्टि धुंधली कर दी, पर तभी मित्र ने कहा, 'यह भी पढ़ो।'

उस कोने में विशेष संवाददाता ने लिखा था, 'स्वर्गीय कर्नल के तम्बू में

बहुत कम सामान था परन्तु उनके बक्स में एक अद्भुत वस्तु मिली है, जिसने सबको चकित कर रखा है। वह है उनकी स्वर्गीय पत्नी के एक चित्र के साथ रेशम में लिपटी हुई शराब की एक बोतल। उस बोतल पर उन्हींके हाथ से लिखा हुआ है—आज १५ मई, १९३९ है।—उसीके नीचे फिर लिखा है—एक दिन मुझे जब संभालनेवाला मिल जाएगा, और वह बहुत शीघ्र मिलेगा, तब मैं इसे पिऊंगा।—पता चला है कि १५ मई, १९३९ को उनकी पत्नी का देहान्त हुआ था। ऐसा अनुमान है कि स्वर्गीय कर्नल ने उस दिन शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी और उसकी स्मृति में उन्होंने उस बोतल को रख छोड़ा था, पर···।'

तब आगे पढ़े बिना मैंने अखबार हाथ से रख दिया, और श्रद्धानत होकर मन ही मन मिसेज़ सिंह को प्रणाम किया। जीते-जी चाहे उसने पति की कितनी ही सेवा क्यों न की हो, पर मरने के बाद वह निस्संदेह उसकी जीवित शक्ति बन गई थी।

ठेका

पहली कहानी की तरह इस कहानी की प्रेरणा भी समाज में फैले नानाविध भ्रष्टाचार से मिली । यह किसी एक व्यक्ति की कहानी नहीं है बल्कि अनेकानेक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले एक ठेकेदार की कहानी है । साधारणतः मैं इतनी तीव्र कहानियां नहीं लिखता। लेकिन इसको मैं बड़े सहजभाव से लिख गया। कुछ लोगों को यह पहली कहानी से भी अधिक पसन्द आई ।

◇

धीरे-धीरे कहकहों का का शोर शान्त हो चला और मेहमान एक-एक करके विदा होने लगे। लकदक करती ठेकेदारों की फैशनेबल बीवियां और अपने को अब भी जवान माननेवाली छोटे अफसरों की अधेड़ घरवालियां, सभी ही-ही करती, चमकती, इठलाती चली गईं, लेकिन रोशनलाल की पत्नी तब तक आई भी नहीं। वह कई बार बीच में से उठकर होटल के बाहर गया। खाते-पीते, बातें करते, उसकी दृष्टि बराबर द्वार की ओर लगी रही पर सन्तोष उसे नहीं दिखाई दी, नहीं दिखाई दी। यह बात नहीं कि सन्तोष को इस पार्टी का पता नहीं था, इसके विपरीत उसने रोशनलाल को कई बार इस पार्टी की याद दिलाई थी। आज सवेरे उसने विशेष रूप से कहा था, 'राजकिशोर शाम को वेन्गर में पार्टी दे रहे हैं। भूलिएगा नहीं।'

'तुम नहीं चलोगी ?'

'क्यों नहीं चलूंगी, लेकिन आपके साथ न चल सकूंगी।'

'क्यों ?'

'मुझे अपनी एक सहेली से मिलना है। मैं वहीं आ जाऊंगी।'

और इतने पर भी वह नहीं आई। वह पार्टियों की शौकीन है, विशेषकर होटल में दी गई पार्टी में वह सौ काम छोड़कर जाती है। रोशन का मन खट्टा

होने लगा। उसे क्रोध भी आया, पर ऊपर से वह शान्त बना रहा। यही नहीं, उसने कहकहे लगाए और जैसा कि पार्टियों में होता है, उसने उपस्थित नारियों के बारे में अपनी बेलाग राय भी प्रकट की, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर नुक्ताचीनी की, पर अपनी पत्नी की अनुपस्थिति के बारे में वह किसीका समाधान न कर पाया।

एक मित्र ने चुटकी लेते हुए कहा, 'रोशन और सन्तोष आदर्श दम्पती हैं। एक-दूसरे के काम में बिलकुल दखल नहीं देते।'

दूसरे बोले, 'देना भी नहीं चाहिए। पति-पत्नी दोनों बराबर के साझीदार हैं।'

तीसरे ठेकेदार मित्र कुछ गम्भीर थे। कहने लगे, 'यह तो ठीक है लेकिन स्त्री आखिर स्त्री है। उसे ढील चाहे कितनी ही दो पर रस्सी अपने ही हाथ में रखनी चाहिए।'

इसपर एक कहकहा लगा और वही कहकहा रोशन की छाती में शूल की तरह कसक उठा। उस क्षण आवेग के कारण वह कांपने लगा, मुख तमतमा आया और उसने चाहा कि वह भाग जाए। पर यह सब आन्तरिक था। प्रकट में वह भी मुक्त-भाव से हंसा और बोला, 'जी नहीं, मैं मदारी नहीं हूं जो बन्दरिया को नचाया करूं।'

कहकहों की आवाज़ और भी तेज़ हो उठी और उसीके बीच एक महिला ने कहा, 'होशियार रहिए। यह जनतन्त्र का युग है। इसमें बन्दरिया मदारी को नचाने लगी है।'

'कोई अन्तर नहीं। दोनों रस्सी में बंधे हुए हैं और दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे को नचा रहे हैं।' एक और साथी अट्टहास बखेरते हुए बोल उठे।

'बेशक आप ठीक कहते हैं। इसीका नाम विवाह है, और विवाह एक ठका है।'

वह सज्जन अपना वाक्य पूरा कर पाते कि दूसरी अपेक्षाकृत युवती महिला तीव्रता से बोल उठी, 'खाक है, आप लोगों के ऐसे विचार हैं तभी तो तलाक की ज़रूरत पड़ी। नारी अब पुरुष की दासी नहीं रह सकती...'

और वह वहां से उठकर चली गई। जैसे कहकहों को पाला मार गया हो। उस मेज़ की महफिल फिर नहीं जमी। दूसरी मेज़ों पर उसी तरह खिलखिलाहट

उठती रही पर रोशन का मन नहीं लगा। उसने चाहा कि तुरन्त उठकर चला जाए पर शायद सन्तोष अब भी आ जाए, इसी लालच में वह अन्त तक रुका रहा और जब उसने राजकिशोर और उसकी पत्नी श्यामा से विदा ली तो राजकिशोर ने पूछ ही लिया, 'आखिर सन्तोष रही कहां ?'

रोशन बोला, 'समझ में नहीं आता। आने का पक्का वायदा करके गई थी। शायद...'

श्यामा हंस पड़ी, 'शायद आपको मालूम नहीं। मैंने आज उन्हें साहब के साथ देखा था।'

'मिस्टर वर्मा के साथ ?

'जी हां।'

रोशन के मुख की लालिमा सहसा पीली पड़ गई। राजकिशोर ने मुंह छिपाकर श्यामा की ओर देखा, मुस्कराया, मानो कहता हो 'ओह, तो यह बात है।' फिर रोशन से कहा, 'कुछ भी हो। उसे आना चाहिए था। मैं बहुत नाराज़ हूं। उससे कह देना, समझे।

रोशन ने किसी तरह हंसते हुए कहा, 'कह दूंगा जनाब।'

और वह एक झटके के साथ अपने को तुड़ाकर वहां से नीचे उतर गया। उसीके साथ राजकिशोर और श्यामा की शरारत-भरी हंसी भी उतरी। अगर वह सुन पाता तो श्यामा कह रही थी, 'सन्तोष मुझे पराजित करना चाहती है पर...।'

लेकिन रोशन कुछ भी सुनने की स्थिति में न था। उसका तन-मन झुलस रहा था और आवेश के कारण पैर डगमगा रहे थे। क्रोध के कारण या ग्लानि के, कुछ पता नहीं। पर वह विचारों के तूफान में फंस गया था। उन्हींमें उलझ-उलझकर उसकी बुद्धि बार-बार लड़खड़ा पड़ती थी—'वह क्यों नहीं आई। आखिर क्यों ? क्या वह सचमुच वर्मा के साथ थी ? सचमुच...लेकिन उसने मुझसे क्यों नहीं कहा ? मुझसे क्यों छिपाया ? क्यों, आखिर क्यों ? उसका इतना साहस कैसे हुआ ? कैसे...'

अन्तिम वाक्य उसने इतने ज़ोर से कहा कि वह स्वयं चौंक पड़ा। आस-पासवाले व्यक्ति उसे अचरज से देखने लगे, पर दूसरे ही क्षण वह फिर तूफान में खो गया। वह जानता है कि सन्तोष बड़ी सामाजिक है। खूब मिलती-जुलती

है। सरकारी विभागों के प्रमुख कर्मचारियों से उसकी काफी रब्त-ज़ब्त है। इसका प्रारम्भ उसीने तो कराया था। नहीं तो वह इतनी लजीली थी कि उसके सामने भी नयन नहीं उठाती थी···।

वह कांप उठा। एक के बाद एक सिहरन तरंग की भांति एड़ी से उठती और उसे मस्तिष्क तक झनझना देती। वह फुसफुसाया—इस सामाजिकता से उन्हें कितना लाभ हुआ है लेकिन···सन्तोष उससे छिपकर कभी किसीसे नहीं मिलती। कभी उससे कुछ नहीं छिपाती। कभी उससे दूर नहीं जाती। हां, कभी उससे दूर नहीं जाती। जो कुछ करती है, उसके कहने से करती है। संतोष उसीकी है। संतोष रोशन की है···।

'नहीं, नहीं,' वह चीख उठा, 'राजकिशोर मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कराहट का साफ यही मतलब था कि सन्तोष मेरी चिन्ता नहीं करती। मुझसे छिपकर अफसरों से मिलती है। मुझे धोखा देती है, चराती है, हरजाई है···।'

वह तेज़ी से दौड़ने लगा। उसके हाथ कुलमुलाने लगे। वह किसीका गला घोटने को आतुर हो उठा। उसने न तांगेवाले की पुकार पर ध्यान दिया न बस के अड्डे पर रुका। अभी गर्मी नहीं आई थी। मार्च की संध्या हल्की-हल्की शीतलता से महकती आ रही थी पर वह पसीने से तर था। घर न जाकर वह यंत्र की भांति मथुरा रोड की ओर मुड़ गया। अभी वहां कुछ हरियाली शेष थी। रेल का पुल पार करके वह उत्तर की ओर बढ़ा। उधर बंगले थे। कुछ ही देर में वह वहां पहुंच गया जहां मिस्टर वर्मा रहते थे। वह उनके बंगले के पास ठिठका पर वहां सर्वत्र मौन था। सब कुछ स्तब्ध था। समूचा वातावरण रात्रि के शीतल आवरण में प्रवेश करता जा रहा था। उसकी शिराओं का तनाव ढीला पड़ा। वह फुसफुसाया, 'नहीं, यहां नहीं।'

लेकिन दूसरे ही क्षण वह फिर दौड़ने लगा। उस स्तब्धता में उसके अपने पैरों की पदचाप उसे कंपाने लगी। जलाशय के किनारे दूर-दूर तक फैली हरी घास पर दो-चार रोमाण्टिक मूर्तियां मुक्त वातावरण का आनन्द ले रही थीं। उसका दिल धुकधुकाया और वह उनके पास से होकर सर्र से निकल गया।

वह फिर रेस्तरां और फैशनेबल सामानवाले बाज़ार की ओर मुड़ गया और कुछ देर बाद विचारों के तूफानों के थपेड़े खाता हुआ शानदार रेस्तरां के

सामने आकर रुक गया। वह अपने को बटोरने के लिए कुछ पीना चाहता था, पर जैसे ही द्वारपाल ने उसके लिए किवाड़ खोले और वह अन्दर दाखिल हुआ वह लड़खड़ाकर पीछे हट गया—सामने संतोष और वर्मा बैठे हैं। दोनों मुस्करा रहे हैं। दोनों···।

वह एकाएक हांफने लगा। गिरते-गिरते बचा और फिर द्वारपाल को चौंकाता हुआ तेज़ी से एक ओर चला गया। भागने लगा। भागता गया, भागता गया। तब तक भागता ही गया जब तक उसका घर नहीं आ गया। रोशनी जल रही थी। दोनों बच्चे सो गए थे पर नौकर ऊंघ रहा था। उसने किसी ओर ध्यान नहीं दिया। सीधा अपने पलंग पर जाकर गिर पड़ा। बहुत देर तक पड़ा रहा। वह न सोच सकता था, न अपना कोई अंग हिला सकता था। वह तब हर दृष्टि से मानो मर चुका था···।

लेकिन सहसा उसके प्राण लौट आए। वह उठकर बैठ गया। उसने निश्चय किया कि वह आज सन्तोष को मार डालेगा, हां, मार डालेगा। जान से मार डालेगा। उसने उसे पार्टी में अपमानित करवाया। मित्रों ने उसपर फब्तियां कसीं। उसे देखकर राज मुस्कराया और श्यामा ने चुटकी ली। श्यामा ने, श्यामा जो·· वह संतोष को मार डालेगा। ज़रूर मार डालेगा···'

कि सहसा किवाड़ खुले और संतोष द्वार पर दिखाई दी। वह मुस्करा रही थी और उसके मदिर नयनों से सुरा जैसे छलकी पड़ती थी। उसने आगे बढ़ते हुए कहा, 'हलो डार्लिंग; तुमने रेस्तरां का दरवाज़ा खोला और फिर चले आए। शायद तुमने हमें देखा नहीं। सामने ही तो थे। मिस्टर वर्मा भी थे···'

रोशन चीख उठा, 'निर्लज्ज! मैं तुम्हें मार डालूंगा!'

संतोष ने चौंककर उसे देखा, 'यह क्या कह रहे हो? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है? अरे, तुम तो कांप रहे हो? मैं पार्टी में न आ सकी शायद इसीलिए···'

रोशन उठकर खड़ा हो चुका था और संतोष की ओर बढ़ रहा था। उसकी आंखें जल रही थीं। उसके मुख पर हिंसा उभर आई थी। उसके हाथ अकड़ रहे थे, पर संतोष ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। बोलती रही, 'मैंने पार्टी में आने का बहुत प्रयत्न किया। मैं वहां आना ही चाहती थी पर मैं श्यामा को नीचा दिखाना चाहती थी।'

रोशन और आगे बढ़ा। उसका मुंह और विकृत हुआ। हाथ ऐंठे···

लेकिन संतोष ने फिर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। बोलते-बोलते वह रोशन के पास आई और उसके कंधे पर हाथ रख दिया। फिर नयन उठाकर उसकी आंखों में झांका। रोशन का शरीर एकाएक झनझनाया पर उसने कड़ककर पूछा, 'तुम कहां थीं ? मैं पूछता हूं तुम कहां थीं।'

संतोष निस्संकोच बोली, 'तुम्हें क्रोध आ रहा है। आना ही चाहिए, पर मैं क्या करूं ? श्यामा ने वर्मा को तभी छोड़ा जब पार्टी का समय हो गया। वह उसे वहां ले जाना चाहती थी। वह···ठेका लगभग प्राप्त कर चुकी थी···।'

रोशन फिर कांपा पर अब उसका कारण दूसरा था। उसने तेज़ी से गर्दन को झटका दिया और सन्तोष को देखा, बोला, 'क्या कहती हो ?'

'यही कि मैं वर्मा के साथ न रहती तो वह ठेका राजकिशोर को मिल जाता।'

'राजकिशोर को मिल जाता ? मैंने तो सुना है वह उसे मिल चुका है। उसकी बड़ी पहुंच है। श्यामा···।'

सन्तोष व्यंग्य से चीख उठी, 'तुमने गलत सुना है। श्यामा कुछ नहीं कर सकती। ठेका राजकिशोर को नहीं मिला···।'

'तो किसको मिला···?'

सन्तोष के हाथ में एक लिफाफा था, उसीको उसने रोशन की ओर तेज़ी फेंका, 'यह देखो···।'

'संतोष !'—स्तब्ध रोशन चीख उठा। वह सब कुछ भूल गया। उसका सब संघर्ष निमिष-मात्र में घुल-पुंछ गया। उसने लपककर लिफाफा खोला···

सन्तोष शरारत से हंसी, बोली, 'सरकारी पत्र कल तुम्हारे पास आ जाएगा और परसों हम वेन्गर में एक शानदार पार्टी देंगे। एक बहुत शानदार पार्टी···'

रोशन तब तक उस पत्र को पढ़ चुका था। उसने कांपते हुए, चीखते हुए सन्तोष को बांहों में भर लिया और बार-बार कहने लगा, 'सन्तोष, तुम कितनी अच्छी हो, कितनी बड़ी हो। ओह मैं तुम्हारे लिए क्या करूं···? क्या करूं···?'

सन्तोष बोली, 'कुछ नहीं डार्लिंग, मैं पिक्चर जा रही हूं। मेरा इन्तज़ार न करना। सो जाना।'

जज का फैसला

इस कहानी का आधार भी एक विचार है और इस विचार के कई रूप हो सकते हैं। मैं इन सब रूपों को लेकर लिखना चाहता था लेकिन अभी तक लिख नहीं पाया। यह प्रेम की उत्कटता का एक रूप है। इस कहानी का रेडियो रूपान्तर भारत की अनेक भाषाओं में प्रसारित हुआ है। यह इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

◇

सवेरा होने पर हमारे सैकिण्ड क्लास के डिब्बे में काफी यात्री ग्रा गए थे। जब गाड़ी स्टेशन से चली, तो वे सब मौन थे, परन्तु मार्ग में न जाने किस-किस सूत्र से होकर उन सबमें वार्तालाप ग्रारम्भ हो गया। बिहटा स्टेशन गुज़र जाने पर सहसा एक प्रौढ़ सज्जन, जिनकी सघन श्वेत भौंहें चमकीले नयनों पर छज्जे की तरह छा रही थीं, बोले, 'यहां पर एक बार बहुत भयंकर दुर्घटना हो गई थी। रेल-यात्रा के इतिहास में कई कारणों से वह ग्रभूतपूर्व रहेगी। उसमें सौ से भी ऊपर यात्रियों की जान गई थी ग्रौर उससे भी कुछ ग्रधिक यात्री घायल हुए थे।'

इसपर नदी की तरह चर्चा ने ग्रपना मार्ग बिलकुल बदल लिया। यद्यपि हममें से कोई भी यात्री उस दुर्घटना का साक्षी नहीं था, तो भी कुछ लोगों ने दूसरी दुर्घटनाग्रों को देखा था ग्रौर उनका वर्णन करते-करते वे ऐसे सहम रहे थे, जैसे वे दुर्घटनाएं ग्रभी घट रही हों। एक स्वस्थ ग्रौर लम्बे-तगड़े युवक ने जब दो ग्रापबीती रोमांचकारी घटनाएं सुनाईं, तो हम सब ठगे-से उसे देखते रह गए। वह इंजीनियर था। एक बार वह चलती ट्रेन के नीचे ग्रा गया था, यद्यपि उसका शरीर ज़ख्मों से भर गया था तो भी उसके प्राण बच गए। कैसे बच गए, यह वह स्वयं भी नहीं जानता। जब यह गिरा तो उसने पाया कि गाड़ी स्टेशन में प्रवेश कर रही है। उसकी गति निरन्तर धीमी हो चली है ग्रौर उसने

डिब्बे में चढ़नेवाली पैड़ी को कसकर पकड़ लिया है। इतना ही उसे स्मरण है लेकिन दूसरी घटना बहुत भयंकर थी। पौड़ी-गढ़वाल से कोटद्वार लौटते समय उसकी बस ढाई सौ फुट नीचे खड्ड में जा पड़ी। दस व्यक्ति वहीं मर गए और पांच अस्पताल में पहुंचकर चल बसे, पर वह कुछ ज़ख्मों के साथ बच गया था। कैसे बच गया, यह पूछने पर वह इतना ही कह सका, 'बस बच गया। अब आपके सामने बैठा हूं।'

युवक की यह कहानी सुनकर हम सबको रोमांच हो आया और हमने उसे बहुत-बहुत बधाई दी। पर उसने शरारत से मुस्कराकर कहा, 'दोस्तो ! मैंने मौत को ही नहीं छकाया, बीमा-कम्पनी से हर्जाने के रुपये भी वसूल किए।'

इसपर एक कहकहा लगा और जब वह शान्त हुआ तो दुर्घटना की चर्चा शुरू करनेवाले प्रौढ़ सज्जन, जो एक सेवा-निवृत्त जज थे, बोले, 'अपने इंजीनियर मित्र की तरह मौत को छकाने का अवसर तो मुझे नहीं मिला, पर हां, इस दुर्घटना से सम्बन्धित एक विचित्र मामले का न्याय मैंने अवश्य किया है।'

एक मित्र बोल उठे, 'आपका मतलब बिहटा रेल-दुर्घटना से है ?'

'जी हां।'

'शायद इसमें कुछ षड्यन्त्रकारियों का हाथ था। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए सैकड़ों निर्दोष व्यक्तियों की जान ले लेना आजकल एक फैशन हो गया है।'

जज महोदय ने निहायत गम्भीरता से गर्दन हिलाकर कहा, 'मित्रो ! उस मामले का सम्बन्ध न तो किसी प्रकार की राजनीति से है और न दुर्घटना के कारणों से।'

'तो ?'

'उसका सम्बन्ध मानव-चरित्र से है।'

इसपर इंजीनियर ने अनुमान लगाया, 'ऐसे अवसरों पर कुछ शरारती लोग अपना उल्लू सीधा करने से नहीं चूकते। जब भले यात्री भयातुर हो इधर-उधर भागते हैं, तो वे दुस्साहसी सहायता करने की बात कहकर उन्हें लूट ले जाते हैं।'

'आप ठीक कहते हैं,' तीसरे भाई ने उनका अनुमोदन किया, 'वे लोग घायलों और मुर्दों तक की जेब कतरने से नहीं चूकते।'

इसके बाद चौथे, पांचवें, छठें और सातवें अर्थात् डिब्बे के हर यात्री ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का प्रयोग किया, लेकिन जज साहब ने सिर हिला-हिलाकर उन सबको गलत साबित कर दिया। आखिर जब सबके अनुमानों का खज़ाना खाली हो गया तो जज साहब ने कहना शुरू किया, 'उस दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि में जो यात्री सफर कर रहे थे उनमें एक महिला भी थीं। अपूर्व सुन्दरी उन महिला के विवाह को यद्यपि पांच वर्ष बीत चुके थे, तो भी वे नवविवाहित दुलहन की तरह लगती थीं, उसी तरह मोहिनी और लजीली। उनके लम्बे-पतले नील नयन, पतले नासापुट, कोमल मुख, किंचित् नीले-भूरे सघन केश देखकर भूख मिटती। वे प्राचीन काल की उन सुन्दरियों में से थीं जिनके देखने-मात्र से तिलक पुष्प कुसुमित हो आता और जब वे मृदु-मन्द गति से मुस्कराती तो चम्पा के फूल विहंस उठते।

'इन पांच वर्षों ने उनके व्यवहार में जो कुछ अन्तर डाला था वह यही था कि अब वे कुछ नटखट भी हो चली थीं। लेकिन इसके कारण से अपने पति को और भी प्रिय हो गईं। उनके पति उस ट्रेन में उनके साथ थे। वे इण्टर क्लास में थे और सहयात्रियों ने उनके लिए पूरा बर्थ छोड़ दिया था। क्योंकि उनमें से बहुतों को यह गलतफहमी हो गई थी कि वे अभी-अभी विवाह करके लौट रहे हैं। बहरहाल उनकी ज़िन्दगी एक रंगीन पैमाने की तरह थी, जो केवल उन्हींको नहीं महका रही थी बल्कि आसपास वालों को भी खुशबू से तर कर रही थी। वे प्यार के उन क्षणों को जी रहे थे, जिनकी याद बहुतों के जीवन का सम्बल होती है और गाड़ी उड़ी जा रही थी—खड़खड़ाती, चिल्लाती, धुआं उगलती और अन्धकार की छाती में प्रकाश का छुरा भोंकती।'

छुरे की उपमा देने पर यात्री कुछ चौंके, पर कथासूत्र की उत्सुकता ने उन्हें मौन ही रखा और जज साहब एक क्षण बाहर झांक फिर बोलने लगे। उन्होंने अब अपनी कोहनी खिड़की की पुश्त पर टिका ली, उनके मोटे ओठ कुछ इस तरह ऐंठने लगे जिस तरह हमला करने से पूर्व मेंढक खानेवाला सांप ऐंठता है, उसके दांत तो होते हैं पर उनमें ज़हर नहीं होता। उन्होंने कहा, 'रात हो गई थी और रेलगाड़ी पूरी गति से दौड़ रही थी। प्रायः सभी यात्री ऊंघने लगे, पर वह दम्पती अब भी प्रेमालाप में व्यस्त थे। पत्नी ने कई बार कहा—'अब सो जाइए।'

'पति ने मुस्कराकर जवाब दिया, 'न जाने क्यों आज नींद भी तुमसे बातें करने को उत्सुक है।'

''तो मैं सोती हूं। सपनों में उससे बातें करूंगी,' पत्नी खिलखिला पड़ी।

'पति बोला, 'अब जो है वह क्या सपने से कुछ भिन्न है? तुम स्वयं एक सपना हो।'

'पत्नी हंस पड़ी, 'स्वप्न एक भावना है, पर मैं सत्य हूं। तुम्हारे सामने बैठी हूं, तुम मुझे छू सकते हो।'

'और इस तरह बातें चलती रहीं—प्रेमियों की निरर्थक बातें, आदि और अन्त से हीन पर जीवन को शक्ति और सुगन्ध से भरनेवाली। लेकिन कुछ भी हो, समय की शक्ति की किसने थाह ली है। आखिर उनकी पलकें भारी हो आईं, परन्तु वे अलसाई-झुकी पलकें उन दो प्रेमियों के हृदयों को और भी मादकता से भरने लगीं। वे मर्मर-ध्वनि में फुसफुसाने लगे···तभी अचानक एक झटका लगा, वे बुरी तरह हिल आए। गाड़ी जैसे लड़खड़ाई, 'शड़ाक्छू-शड़ाक्छू' का अनवरत उठनेवाला शब्द कहीं टकराकर भयंकर वेग से चीखा, जैसे उस क्षण समय और गति में संघर्ष छिड़ गया। भीषण गड़गड़ाहट के साथ सब कुछ उथल-पुथल होने लगा। यात्री नींद में चीखे और जागने से पूर्व गिर पड़े। देखते-देखते समूचा वातावरण रौरव आर्तनाद और मर्मभेदी कराह से भर उठा। अन्धकार ने उसकी भीषणता को और भी बढ़ा दिया। उस दम्पती ने गिरते-गिरते अन्तिम बार एक-दूसरे को पुकारा और फिर उस प्रलयंकारी गड़गड़ाहट में खो गए।'

हम यात्रियों को लगा कि जैसे वह दुर्घटना अभी घट रही है। हमारे हृदय कराह उठे—धक्-धक्, लेकिन सौभाग्य से तब दिन का उजाला था। इंजीनियर ने साहस करके पूछा, 'तो गाड़ी पटरी से उतर गई और वे दोनों मारे गए?'

'मैंने अभी कहा था कि उस दुर्घटना में सौ से भी ऊपर व्यक्तियों की जान गई थी, पर वे दोनों उनमें नहीं थे।'

'क्या?' इंजीनियर ने चकित होकर पूछा, 'क्या वे बच गए?'

'जी हां, वे बच गए। पति महोदय के शरीर पर अनेक घाव आए, पर सभी आश्चर्यजनक रूप से साधारण, दूसरी ओर उनकी रूपसी पत्नी के घाव एक से एक बढ़कर असाधारण। क्या वर्णन करूं···उनके दाहिने पैर की हड्डी

टूट गई। मुख पर दाहिनी ओर, सिर से लेकर ठोड़ी तक मानो एक बड़ी दरार-सी पड़ गई हो···। इस दुर्घटना के दो दिन बाद जब पति महोदय को उठने-बैठने की आज्ञा मिली तो सबसे पहले उसने कहा, 'पत्नी को देखना चाहूंगा।'

'उसे मालूम हो चुका था कि वह जीवित है और ज़िले के बड़े अस्पताल में ले जाई गई है। लेकिन डाक्टर ने उसे बताया, 'मित्र, तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिए। उनकी हालत अभी ठीक नहीं है।'

'पति महोदय ने पूछा, 'वह होश में तो है।'

''जी हां, अब उन्हें होश आ गया है।'—अन्तिम वाक्य उसने बहुत धीरे से कहा।

''तो मुझे वहां ले चलिए। मैं उसे देखना चाहता हूं। वह मेरी पत्नी है।'

''जानता हूं मित्र।'—डाक्टर ने यथाशक्ति अपने को संयत रखा और कहा, 'यह भी जानता हूं कि वे अच्छी हो जाएंगी। पर···'

''पर क्या?' उसने चीखकर पूछा, 'क्या उसके अधिक चोट लगी है?'

''यह समझ लीजिए पर वे ठीक हो जाएंगी। अवश्य ठीक हो जाएंगी।'

'यह सुनते ही उसका बांध टूट गया और वह सिसकियां भरने लगा। डाक्टर ने उसे हर तरह से सान्त्वना दी पर उसे शान्ति नहीं मिली। डाक्टर ने अन्त में कहा, 'अभी कई दिन तक उसके चेहरे की पट्टी नहीं खुल सकती। आप देखकर क्या करेंगे।'

'वह आंसुओं में बड़बड़ाया, 'डाक्टर, मैं उसका चेहरा नहीं, उसे देखना चाहता हूं। उसे···'

'और वह फिर सिसकियां भरने लगा और बार-बार अपनी पत्नी का नाम लेने लगा। डाक्टर आखिर मनुष्य था। उसने कोशिश करके उसका तबादला उसी अस्पताल में करवा दिया, जहां उसकी पत्नी थी। शर्त यह थी कि वह पत्नी को देख सकेगा परन्तु बोलेगा नहीं। क्योंकि उसकी पत्नी को बताया गया था कि उसका पति अभी उठने लायक नहीं है।

'आप कल्पना कर सकते हैं कि जब उसने अपनी घायल पत्नी को देखा होगा, तो उसकी क्या दशा हुई होगी।···उसका हृदय भयंकर तूफान की गति से दौड़ रहा था। वह रह-रहकर वात-पीड़ित रोगी की तरह कांप उठता। उसने देखा; उसकी आंखों के आगे धुआं-सा उठा। पत्नी का एक पैर काट दिया

गया है। पूरे सिर और मुंह पर पट्टियां बंधी हैं। वह देख नहीं सकती। वह धीरे-धीरे उसके पास पहुंचा, बहुत धीरे-धीरे। दरवाज़े से उसके पलंग तक के कुछ गज़ों के फासले को पूरा करने में उसे एक पूरा युग लग गया। एक युग लम्बे जितने क्षण तक वह खड़ा रहा···फिर पुकारना चाहा, 'विमल···'

'विमल उसकी पत्नी का नाम था लेकिन वह पुकार नहीं सका। उसे एकाएक चक्कर आ गया और वह वहीं गिर पड़ा। शीघ्रता से उन लोगों ने उसे वहां से हटा दिया। उसकी पत्नी कुछ नहीं जानती थी, कुछ जान भी न सकी। होश में आने के बाद से वह रह-रहकर फुसफुसा उठती, 'उन्हें···उन्हें बुला दो···उन्हें बुला दो, वे कहां हैं ?, वे कहां हैं ?' पर उसका स्वर बड़ा क्षीण था और संघर्ष प्रायः गतिहीन। अगले दिन उसके पति ने, जो एक ही रात में बूढ़ा हो गया था, बड़े डाक्टर से पूछा, 'क्या मेरी पत्नी ठीक हो जाएगी ? मुझे साफ-साफ बता दीजिए।'

'डाक्टर ने आकंठ सहानुभूति भरकर कहा, 'मिस्टर! आपकी पत्नी के प्राण-तो बच जाएंगे पर मुझे दुःख है···उसका एक पैर, एक आंख दोनों जाते रहेंगे, मुंह भी कुछ टेढ़ा हो जाएगा।'

''मुंह भी कुछ टेढ़ा हो जाएगा।' वह फुसफुसाया।

''मुझे बहुत अफसोस है मिस्टर ! बहुत अफसोस है। चार दिन पूर्व आपकी पत्नी अपूर्व सुन्दरी रही होगी, पर अब···। आपको सब्र करना चाहिए।'

'और डाक्टर चला गया। वह कई क्षण आंखें फाड़े उसे जाते देखता रहा। बड़बड़ाता रहा—अपूर्व सुन्दरी, सब्र, टेढ़ा मुख, एक पैर, एक आंख अपूर्व सुन्दरी !···घंटों तक उसकी यही दशा रही। वह बार-बार मदोन्मत्त की तरह हंसा, बड़बड़ाया—अपूर्व सुन्दरी, एक पैर, एक आंख, टेढ़ा मुख, अपूर्व सुन्दरी ! ···फिर सिसकियां भरने लगा।

'डाक्टरों के लिए यह एक समस्या हो गई। उन्होंने सलाह करके उसे अस्पताल से मुक्त करने का निश्चय किया और जब बड़े डाक्टर यह निश्चय सुनाने के लिए उसके पास पहुंचे, तो उनके अचरज का ठिकाना नहीं रहा—वह पूर्ण शान्त था। उसने इस निश्चय का स्वागत किया। केवल जाने से पूर्व एक बार पत्नी को देखने की इच्छा प्रकट की।

'और इस बार जब वह पत्नी के पास पहुंचा, तो न तो उसका दिल कांपा,

न वह गिरा । इसके विपरीत वह दृढ़ता से उसके बिलकुल पास जा खड़ा हुआ। फिर सहसा उसने हाथ उठाया, नर्स ने एकदम मना किया। वह रुक गया पर दूसरे ही क्षण उसने फिर हाथ उठाया, फिर गिरा लिया, पर तीसरी बार उसने दोनों हाथ उठाए। नर्स ने तीव्रता से रुकने का इशारा किया, पर इस बार वह तेज़ी से आगे झपटा और उसके दोनों हाथ घायल पत्नी के गले पर जम गए···

'क्षण-भर में उस कमरे की दुनिया पलट गई। नर्सों का पागलों की तरह भय से चिल्लाते हुए भागना, उसका दांत भींचकर शैतानी शक्ति से गला दबोचना, पत्नी की भयानक चीख और···और उसके बाद···

'उसके बाद उसने मृत पत्नी का एक सुदीर्घ क्षण तक चुम्बन किया और फिर पसीने से तर हांपते हुए हस्पताल के अधिकारियों और कर्मचारियों की भीड़ से कहा, 'मैं अब कहीं भी चलने को तैयार हूं···' '

यहां आकर जज महोदय मौन हो गए। उनका भारी मुख आंसुओं और पसीने से तर था, पर हम सब जैसे एक दुःस्वप्न से जागे हों। हमारे हृदय आतंक से धड़क रहे थे और गाड़ी स्टेशन में प्रवेश कर रही थी। इस बार भी इंजीनियर ने साहस किया। एक सुदीर्घ निःश्वास छोड़कर उसने कहा, 'तो यह मामला था जिसका आपको फैसला करना पड़ा?'

'जी हां।' जज ने शीघ्रता से उठते हुए कहा। उन्हें वहीं उतरना था।

एक सज्जन जो अपेक्षाकृत युवक थे और जिनकी आंखें आंसुओं से भरी थीं, बोले, 'निस्सन्देह आपने उसे मुक्त कर दिया होगा क्योंकि वह···वह···।'

परन्तु वह आगे नहीं बोल सका, उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। जज ने उसे देखा और कहा, 'अगर आप उस मुकदमें में जूरी होते तो क्या करते?'

'निस्सन्देह छोड़ देते,' हम एकसाथ बोल उठे।

जज के मुख पर एक विचित्र मुस्कराहट फैल गई, बोले, 'उस दिन की जूरी ने भी यही कहा था। पर मित्रो! मैं उसके साथ, अन्याय नहीं कर सका। मैं जानता हूं, मैंने बहुत-से मुकदमों में अन्याय किया है, पर इस फैसले पर मुझे सदा गर्व रहेगा। मैंने उसे फांसी की सजा दी थी।'

'फांसी!' हम सब चीख उठे।

नीचे उतरते हुए जज ने इतना और कहा, 'उसे जीवित रखना उसकी पवित्र भावना का अपमान होता।' और फिर वे मुसाफिरों की भीड़ में खो गए।

कितना झूठ

यह मेरे अपने जीवन का एक पृष्ठ है।

◊

निशिकांत की आंखें रह-रहकर सजल हो उठतीं और वह मुंह फेरकर सड़क की ओर देखने लगता, मानो अपने आंसुओं को पीने की चेष्टा कर रहा हो। सड़क पर सदा की तरह अनेक नर-नारी पैदल, तांगे, कार, साइकिल या दूसरे यानों पर, इधर से उधर आ-जा रहे थे। उनमें अमीर-गरीब, स्वस्थ-अस्वस्थ, सुन्दर-असुन्दर, दाता-भिखारी, अच्छे और बुरे, सभी थे। कुछ चुपचाप चल रहे थे, कुछ ऊंचे स्वर में चिल्ला रहे थे। उनके स्वर की गूंज दूर-दूर तक फैल रही थी। कुछ फैशन की तितलियां, यौवन की प्रतिमाएं, खोए जीवन की याद लिए कुछ वृद्धाएं, कुछ अल्हड़ बालक-बालिकाएं, सिनेमा में सुने हुए गीत को गाने की चेष्टा करते हुए कुछ मस्त युवक, कुछ युग के भार से दबे हुए सिनरसीदा लोग। सभी आते और लिप्त-अलिप्त-से, एक अदृश्य चक्कर में घूमते-घूमते विलीन हो जाते।

यह सब देखकर निशिकांत हठात् सोच बैठता—आखिर वह सब क्या है? यह सृष्टि क्यों बनी है? उस अव्यक्त-अगोचर परमात्मा को क्यों यह खब्त सवार हुआ? क्यों उसने मकड़ी की तरह यह ताना-बाना बुन डाला? फिर इस जाले में कितना तेज़ आकर्षण—स्त्री और पुरुष एक-दूसरे की तरफ इस प्रकार खिचते हैं जैसे कभी वे एक रहे हों और फिर किसीके क्रूर हाथों द्वारा अलग कर दिए गए हों और अब जैसे फिर एक होना चाहते हों —बिलकुल उस काल्पनिक अर्द्धनारीश्वर की तरह। लेकिन वे एक हो कहां पाते हैं—केवल एक क्षणिक, अपरिमेय, अद्भुत और आनन्दमय आवेग

के बाद अलस-उदास और धीर-गम्भीर होकर अपने ही समान अपने अनेक स्वरूपों का निर्माण करने में लग जाते हैं। स्वयं स्रष्टा बनकर नियन्ता की बेवकूफी को दोहराने लगते हैं और इस कार्य में उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि मृत्यु के समान प्रसव-पीड़ा भी उनके प्राणों में उन्माद पैदा कर देती है। उनका मिट्टी का घरौंदा जब उनके अपने स्वरूपों की किलकारियों से गूंजने लगता है तो आनन्द-विभोर होकर कह उठते हैं—'यही तो स्वर्ग है। और कभी न समाप्त होनेवाले इस सृष्टि-क्रम का एकमात्र कार्य है जीवन के एकमात्र और अन्तिम सत्य को प्रमाणित करना। जीवन का वह सत्य है मृत्यु···!'

निशिकांत हठात् चौंक उठा, 'तो क्या सत्यभामा भी मर जाएगी ···बेशक मर जाएगी···!'

वह फिर कातर हो उठा। जिन आंसुओं को पीने के लिए उसने इतना सोचा था, वे फिर दुगने वेग से उमड़ आए। उसने गर्दन को जोर से झटका दिया और इस बार फिर अपनी आंखें उस विशाल बिल्डिंग की ओर घुमा दीं जिसके एक कमरे में उसकी पत्नी सत्यभामा को लेकर, मृत्यु और जीवन के बीच एक भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था। उसने देखा, उस ब्रह्मलोक (मैटरनिटी हास्पिटल) में अन्दर ही अन्दर एक गुप्त कोलाहल, एक मधुर वेदना, एक मीठा दर्द जागता चला आ रहा है। सफेद बगुले जैसे कपड़ों में कसी नर्सें, तेज़ी से खटखट करती डाक्टरनियां; स्ट्रेचर या इनवैलिड चेयर थामे सहायक दाइयां और बार-बार दरवाज़े पर आकर पुकारती हुई मिसरानी—सभी एक नियम में बंधी, सदा की तरह मशीन के समान अपना काम करती चली जाती हैं।

सहसा दाई ने आकर पुकारा, 'मालती का घरवाला है !'

बेंच पर ऊंघता-सा एक व्यक्ति बोला, 'जी, मैं हूं !'

'लड़का हुआ है !'

'लड़का···!' नींद एकाएक खुल गई, 'दूध लाऊं ?'

'हां, और फल भी,' उसने कहा और यंत्रवत् चली गई।

क्षण बीता। लॉन में अनेक स्त्री-पुरुष आए और गए।

दाई फिर बाहर आई—'करुणा !'

एक स्त्री दौड़ी, 'जी···!'

'लड़की !'

स्त्री के साथ एक उत्सुक-उत्तेजित अधेड़ सज्जन भी थे। सन्न रह गए। दूसरे क्षण फीकी मुस्कान से बोले, 'लड़का और लड़की, दो में से एक ही तो होना था। जाओ, मैं दूध लाता हूं।'

निशिकांत रोज़ इसी तरह सुनता और देखता। रोज़ भागे हुए स्त्री-पुरुष आते और खिलौने की तरह अपना ही सा स्वरूप लेकर चले जाते। रात ही कोई दो बजे एक स्त्री आई। बोली, 'मेरे बच्चा होनेवाला है।'

नर्स ने कहा, 'बेड खाली नहीं है। और कहीं जाइए।'

'लेकिन···!' स्त्री के पति ने घबराकर कहा।

नर्स खिजी, मुस्कराई, स्त्री को लेकर अन्दर चली गई और बीस मिनट बीते होंगे कि लौटकर आई, 'जाइए, दूध ले आइए। आपके लड़का हुआ है।'

निशिकांत ने देखा—एक युवक बहुत दुःखी, संतप्त, अलग एक कोने में ऐसे बैठा है जैसेकि अभी रो पड़ेगा। उसने पूछा, 'क्या बात है?'

वह चौंका, 'क्या बताऊं कि क्या बात है।'

'आखिर···?'

'पांच दिन से दर्द उठ रहे हैं। बच्चा नहीं होता।'

'आपकी पत्नी है?'

'जी···!'

'और कौन है?'

'कोई भी नहीं।'

उसने गम्भीर होने की चेष्टा की और ठीक इसी समय आवाज़ लगी, 'रानी के साथ कौन आया है?'

'मैं हूं,' वह युवक शीघ्रता से आगे बढ़ा।

नर्स ने कहा, 'बच्चा अटक गया है। ऑपरेशन होगा।'

युवक के पैर लड़खड़ाए और वह बेंच पर ऐसे लुढ़क गया जैसे दरख्त से कोई टहनी टूटकर गिर पड़ी हो। नर्स फिर आई और एक पर्चा पकड़ाते हुए बोली, 'घबराइए नहीं। सब ठीक हो जाएगा। जाकर दवा ले आइए।'

वह उठा और अवरुद्ध-कण्ठ निशिकांत से बोला, 'सच कहता हूं, इस बार रानी बच गई तो···'

निशिकांत ने टोककर कहा, 'जाइए, इंजेक्शन ले आइए। जो कुछ आप

करेंगे, वह सब दुनिया जानती है।'

वह गया कि वहां एक तीखी करुणा-भरी आवाज़ गूंज उठी, 'मां, तुमसे बढ़कर मेरा सहारा कौन है। तुम मां हो, तुम जगन्माता हो, तुम···!'

देखा—एक अधेड़ पुजारी, माथे पर त्रिपुण्ड, गले में राम-नामी साफा, करुणा से विगलित, नर्स के पैरों पर झुका जा रहा है, 'मैं लुट जाऊंगा, मेरी बागवाड़ी उजड़ जाएगी, मेरे छोटे बच्चे धूल में मिल जाएंगे···!'

हस्पताल में क्या नहीं होता। नर्स अभ्यस्त है सो बीच में ही तेज़ी से उसने कहा, 'शोर मत मचाओ। इलाज हो रहा है।'

फिर दूसरे ही क्षण धीमा पड़कर फिर बोली, 'आज पहले से आराम है। सब्र करना चाहिए, सब कुछ ठीक होगा।'

'ठीक होगा, मां···?'

हां-ना में जवाब दिए बिना नर्स फिर चली गई। तभी लान के पीछेवाले बंगले में बड़ी डाक्टरनी तेज़ी से स्टेथस्कोप लिए निकली। निशिकांत दौड़कर उसके पास गया। डाक्टरनी ने देखा, रुकी और बोली, 'क्या बात है?'

'सत्यभामा के···?'

'हां-हां, वह आज बेहतर है। खतरा अभी है परन्तु आशा है···'

'आपकी कृपा है, देखिए आप पैसे की चिन्ता मत करना···।'

डाक्टरनी लापरवाही से बोली, 'पैसा कभी हम लोगों के लिए चिन्ता का विषय नहीं रहा। आप···!'

कहती-कहती बड़ी तेज़ी से वह अन्दर चली गई।

पास खड़े एक सज्जन ने पूछा, 'केस बहुत सीरियस है?'

'जी, दस दिन से न जीती है, न मरती है।'

'बच्चा हुआ था?'

'जी, बच्चा तो ठीक हो गया···।'

'फिर···'

'फिर क्या जी, अपने कर्म का लेख। बच्चा होने के सात दिन बाद इतना रक्त बाहर निकल गया कि ब्लड-प्रेशर शून्य पर आ गया। खून के इंजेक्शन लगाने की बात चल रही है।'

'खून के इंजेक्शन!' साथी अचरज से बोले।

'जी हां,' निशिकांत ने कहा और तेज़ी से उठ खड़ा हुआ। अन्दर से उसकी मां आ रही थी। उसके चेहरे पर घबराहट थी और आंखों में तरल निराशा।

'क्या बात है ?' उसने शीघ्रता से अपने को सम्भालकर मां से पूछा।

मां कुछ नहीं बोली, केवल हाथ हिलाकर मानो कहा—'क्या पूछते हो, पूछने का विषय ही अब समाप्त होनेवाला है।'

'फिर उठने लगी है ?'

'भागती है। नर्सों ने बांध दिया है और दूर कमरे में जहां कि······'

'······'

' रह-रहकर कह उठती है—'बच्चा···मेरा बच्चा कहां है ?'

' मैंने कहा—'बेटी, तेरा बच्चा घर पर है। लेकिन वह मानती नहीं। उठ-उठकर भागती है।''

मां रोने लगी। निशिकांत नीचे देखने लगा। उसका हृदय जैसे फटना चाहता हो, आंखें जलने लगी हों। आंसू अन्दर ही अन्दर धुआं बनकर घुट गए। मां फिर आंसू पोंछते हुए बोली, 'मैं घर जा रही हूं। बच्चे के लिए किसी दूध पिलानेवाली को देखना है। दूध के बिना क्या वह बचनेवाला······।'

लेकिन जैसे ही वह जाने को मुड़ी, निशिकांत का छोटा भाई तेज़ी से साइकिल पर आकर बोला, 'जल्दी घर चलो मां !'

मां चौंककर बोली, 'क्यों रे···?'

'चलो तो।'

'आखिर···?'

वह बोल नहीं सका ! रो पड़ा।

निशिकांत समझा और समझकर हंस पड़ा, 'अरे रोता है, इतना बड़ा होकर। दुनिया में मरना-जीना तो लगा ही रहता है···!'

लेकिन मां बावली-सी बोली, 'तू कहता क्या है ?'

फिर पागलों की तरह घर की तरफ दौड़ी। सड़क पर मोटर सन्नाटे से निकल गई। भाई ने साइकिल सम्भाली और निशिकांत सदा की तरह, हाथ कमर के पीछे बांधे, टहलने और सोचने लगा, 'यह दुनिया, यह सृष्टि, जीवन से मृत्यु, मृत्यु से जीवन, यह कैसा निर्माण-चक्र। यह प्रेम, यह वासना, सबका वही एक अन्त! ···'

उसका मस्तिष्क चकराने लगा। उसे याद आया, युद्ध-भूमि के उस महान दार्शनिक नित्शे ने एक स्थान पर लिखा है—'स्त्री एक पहेली है जिसका हल बच्चा है!'

इतने में कई नर्सें मुस्कराती हुई उसके पास से निकल गईं। एक ने निशिकांत को देखा और कहा, 'आज सत्यभामा बेहतर है।'

'थैंक्स, सब आपकी मेहरबानी है।'

'लेकिन उसके बेबी का खयाल रखिएगा।'

निशिकांत एकदम कांपा। नर्स ने उसी तरह कहा, 'जब तक आप धाय का इन्तज़ाम करें, तब तक अपनी भावज का दूध पिलाइए। सत्यभामा हर वक्त बच्चा-बच्चा कहती रहती है!'

'जी,' निशिकांत ने कहा, 'बच्चा बिलकुल ठीक है। धाय का प्रबन्ध कर लिया है।'

दूसरी नर्स बोली, 'कभी यहां भी लाइए।'

'ज़रूर लाएंगे जी।'

वे चली गईं। निशिकांत की आंखें एक बार फिर आंसुओं से भर आईं। वह गुनगुनाया, 'स्त्री एक पहेली है और बच्चा उसका हल···!'

छोटी डाक्टरनी मुस्कराती हुई वहां आई। निशिकांत को देखकर ठिठकी और अंग्रेज़ी में बोली, 'मिस्टर निशिकांत, सत्यभामा आज बेहतर है।'

निशिकांत ने हाथ जोड़े और कृतकृत्य होकर कहा, 'बहुत-बहुत धन्यवाद! वह आपके कारण जीवित है। आप कितनी मेहरबान हैं!'

डाक्टरनी ने सुना-अनसुना करते हुए कहा, 'उसका बच्चा कैसा है?'

'बिलकुल ठीक है···?'

'यह अच्छा है, क्योंकि सत्यभामा बच्चे के लिए ज़रूरत से ज़्यादा चिन्तित है।'

इधर-उधर की दो-चार बातें करके वह चली गई और फिर सन्नाटा छा गया। धूप में भी तेज़ी आने लगी। निशिकांत उसी तरह सोचता हुआ टहलने लगा। परदेश से आई कोई स्त्री एक कोने में खड़ी थी। उसने भी निशिकांत को देखा। पूछ बैठी, 'क्यों भैया, बहू का क्या हाल है?'

'अभी तो चल ही रहा है।'

स्वर को संयत बनाकर वह बोली, 'मैं कहती हूं, इतनी देर जो लगी है, इसीमें भला है। यह तो मरने में ही देर नहीं लगा करती। लेकिन बच्चा तो ठीक है न…?'

'बिलकुल ठीक !' उसने एकदम कहा और फिर चुप हो गया।

दोपहर भी बीतने लगी। मिलने का समय भी आने लगा। फिर कोलाहल शुरू हो गया। नर-नारी फिर बातें करने लगे। इस बार बहुत-से बच्चे भी तोतली वाणी में अपने छोटे भाई-बहनों की चर्चा करने लगे। कुछ हंस रहे थे, कुछ के चेहरों पर चिन्ता की गहरी रेखा थी। कोई लड़के की बात कहता, कोई लड़का की। कोई-कोई मौत की चर्चा भी छेड़ देता। निशिकांत ने सबकी बातें सुनीं और अपनी सुनाई। कहा, 'भाई साहब, दुनिया का चक्कर इसी तरह चलता है। लड़का-लड़की, ज़िन्दगी-मौत, सुख-दुःख—ये सब अपनी-अपनी बारी से आया ही करते हैं।'

'जी,' उसकी बात सुनकर एक बोल उठा, 'आप ठीक कहते हैं।'

दूसरे ने कहा, 'आप कहते तो ठीक हैं, परन्तु हमने तो कभी ज़िन्दगी में सख देखा नहीं…'

एक तीसरा व्यक्ति बीच में ही बोल उठा, 'तो फिर आपके लिए जीना बेकार है…!'

बहस तेज़ी से चलती, लेकिन घण्टी बज उठी और भीड़ बड़ी तेज़ी से अन्दर की तरफ भागी। निशिकांत आज अकेला था। भाई अन्य रिश्तेदारों के साथ जमुना पर चला गया था। मां आ नहीं सकती थी। वह अकेला ही चुपचाप सत्यभामा के कमरे की ओर चला गया। उसने देखा—चारो ओर हंसी-खुशी का कोलाहल गूंज उठा है।

केवल सवेरेवाले पुजारी ने व्यग्रता से गुमसुम पड़ी अपनी पत्नी को देखा और रो पड़ा, 'सोना, मेरी सोना, तू बोल तो…!'

नर्स चिल्लाई, 'खबरदार जो यहां रोए !'

दूसरी तरफ एक युवती ने घबराकर पति से कहा, 'मैं जाऊंगी। यहां डर लगता है।'

दूसरी स्त्री ने पति से पूछा, 'बच्चे को देखा है ?'

'नहीं।'

'वह देखो, नम्बर चार के पालने में है। बिलकुल तुमपर पड़ा है।'

'सच !' और फिर वे दोनों मुस्करा उठे।

तीसरी स्त्री अपनी भावज से चुपचाप बातें करने लगी। चौथी स्त्री की मां आई थी। पूछने लगी, 'डाक्टरनी क्या कहती है?'

'ठीक हो जाएगा।'

'कब तक ?'

'दो-चार दिन लगेंगे।'

पांचवीं युवती ने अपने पति से शिकायत की, 'तुम बड़े शैतान हो। मुझे किस मुसीबत में फंसा दिया !'

पति मुस्कराया, 'दो-चार महीने और बीत जाने दो, तब पूछूंगा !'

दोनों हंस पड़े। लेकिन इन सबसे बचकर दूर एक एकान्त कमरे में निशिकांत अपनी पत्नी के सामने जाकर खड़ा हो गया। वह पलंग पर लेटी थी मानो सफेद चादर को किसीने फुला दिया हो। नितान्त रक्तहीन चेहरा, कोई स्पन्दन नहीं, गति नहीं। कई क्षण बाद आंख उठाकर ऐसे देखा जैसे अबोध बालक अपने चारों तरफ देखता है। शायद मुस्कराना चाहा, शायद मुस्कराई भी, चेहरे पर एक अव्यक्त-सा भाव आकर चला गया।

फिर धीरे-से बोली, 'तुम··· ?'

निशिकांत का दिल टूट रहा था, पर उसने अपनी सारी कोमल शक्ति बटोरकर कहा, 'अब तो तुम ठीक हो ?'

वह बोली नहीं, बायें हाथ को उठाकर ज़ोर से पटक दिया।

'नहीं-नहीं,' निशिकांत ने कहा, 'ऐसे नहीं करते।'

सत्यभामा बोली, 'बच्चा··· !'

वह बोला, 'हां, तुम्हारा बच्चा बिलकुल ठीक है।'

'झूठ।'

'नहीं-नहीं, वह घर पर है। उसे दूध पिलाने के लिए धाय रखी है।'

वह आंखें गड़ाकर देखने लगी, लेकिन उन आंखों में क्या था, यह बिना देखे कोई नहीं बता सकता। निशिकांत ने सहसा उन आंखों पर अपना हाथ धर दिया। कहा, 'एक दिन उसे यहां लाएंगे।'

उसने महसूस किया कि सत्यभामा की आंखों की पुतलियां ज़ोर से घूमीं।

कुछ गीला-गीला लगा। उसने हाथ उठा लिया। आंसू की एक बूंद उसके हाथ से चिपककर रह गई। उसने हठात् अपने को संभाला। बोला, 'सत्यभामा!'

'जाओ···!'

'रस पीओगी?'

'नहीं···!'

'कैसी बातें करती हो, पी लो···'

वाणी एकाएक तीव्र हुई, 'तुम अभी तक गए नहीं। जाओ, नहीं तो ये नर्सें तुम्हें जहर दे देंगी!'

निशिकांत ने कुछ कहना चाहा, परन्तु वह बाहर चला गया। बाहर फिर वही कोलाहल, बच्चों की किलबिल, स्त्रियों का धारा-प्रवाह प्रेम, स्नेह और चिन्ता, पुरुषों की गम्भीर मन्त्रणा। कभी नर्सों का खटखट करते आना, दवा पिला जाना, कभी इनवैलिड चेयर पर किसी स्त्री का दर्द से कराहते हुए जाना। यह सब देखता निशिकांत अन्दर के लान में टहलता रहा कि वक्त खतम होने से पहले एक बार फिर पत्नी को देख जाए, लेकिन जैसे ही वह अन्दर गया, सत्यभामा ने अजीब घबराहट से भरकर कहा, 'फिर आ गए?'

निशिकांत बिना बोले सिर पर हाथ फेरने लगा।

'सब मर गए, नर्सों ने सबको मार डाला!'

'नहीं···'

'जाओ···!'

'······'

'सब खत्म—बच्चा भी खत्म!'

'बच्चा बिलकुल ठीक है। तुम देख लेना।'

तभी नर्स ने कहा, 'बहुत मत बोलिए, मिस्टर निशिकांत!'

दो-चार शब्द सांत्वना के कहकर वह बाहर चला गया। उसका दिल भर आया। उसने आंसू पोंछ डाले। सब कोलाहल समाप्त हो गया। केवल रात का चपरासी बरामदे में टहल रहा था। उसने निशिकांत को देखा, 'बाबूजी, अब ठीक है न?'

'कुछ है तो?'

'बस बाबूजी, अब सब ठीक हो जाएगा। मैंने इससे कहीं बुरे केस देखे

हैं। एक लालाजी आए थे। उनकी लड़की सूजकर मांस का पिंड बन गई थी...'

रोज़ की तरह फिर वह अपनी कहानी सुनाने लगा, जिसमें घूम-फिरकर अपनी तारीफ करना उसका लक्ष्य रहता। कहता, 'आदमी की पहचान किसी-किसीको होती है। सच कहता हूं, आप हैं जो आदमी की कदर करते हैं। कभी खाली हाथ नहीं आते, हर वक्त दुआ मांगता हूं कि खुदावन्द करीम इन बाबूजी का भला करना।'

पूछ बैठा, 'बच्चा कैसा है ?'

'बिलकुल ठीक।'

'खुदा का शुक्र है। बहूजी भी बिलकुल ठीक होंगी।'

निशिकांत कांप उठा, न जाने क्यों। तभी बाहर की सड़क पर खोमचेवाले ने आवाज़ लगाई। नर्स ने खिड़की से झांककर कहा, 'ओ शरीफ !'

'जी हुज़ूर !' चपरासी भागा।

'खोमचेवाले को ज़रा बुलाओ। उसके पास चाट है न ?'

लेकिन वह रसगुल्ले बेच रहा था। बड़ी-बड़ी आंखोंवाली नर्स ने कहा, 'हम चाट मांगता है !'

शरीफ ने कहा, 'खाइए, मिस साहेब, बड़ा मीठा है !'

'अच्छा तो ले आओ लेकिन पैसे तुम देना। मेरे पास इस समय नहीं हैं।'

'पैसे !' शरीर हंस पड़ा, 'मेरे पैसे !'

एक क्षण का वह सन्नाटा ! खोमचेवाले ने नर्स को देखा नर्स ने शरीफ को और शरीफ ने बाबू निशिकांत को। निशिकांत का दिल टूट पड़ा था। उसे इन सबसे नफरत हो रही थी। खोमचेवाले ने फिर कहा, 'जाऊँ हुज़ूर ?'

निशिकांत एकाएक बोल उठा, 'जाओ नहीं, पैसे मैं दूंगा।'

'नहीं-नहीं,' नर्स ने शीघ्रता से कहा।

'कोई बात नहीं। अरे, मिस साहब को मीठे रसगुल्ले दो।'

नर्स मुस्कराई, बोली, 'तुम बड़े अच्छे हो। सत्यभामा आज बेहतर है। आपका बच्चा कैसा है ?'

निशिकांत ने कहा, 'सब ठीक है,' फिर मुड़कर बोला, 'लो शरीफ, तुम भी लो!'

'अजी नहीं बाबूजी,' शरीफ ने न-न करते हाथ फैला दिए।

नर्स थैंक्स देकर मुस्कराती अन्दर चली गई। शरीफ वहीं खड़ा-खड़ा खाने लगा।

चारों ओर अच्छा-खासा धुंधलापन छाया था। निशिकांत के दिमाग में कल्पना का बवण्डर फिर उमड़ने लगा। सोचने लगा, 'बच्चे को पत्थर से बांधकर जमुना में डाल दिया होगा...जल के जन्तु उसे खाने दौड़े होंगे...वह मेरा बेटा था...मेरा अंग...मेरा स्वरूप...मेरे और सत्यभामा के प्रेम का साकार प्रतीक!'

शरीफ बोल उठा, 'अरे, आप नहीं खा रहे हैं, बाबूजी!'

निशिकांत चौंका, 'मैं...!'

'हां, आप भी खाइए न?'

'मेरे पेट में ज़ोर का दर्द है, शरीफ, मैं नहीं खा सकता।'

कहकर निशिकांत वहां से हट गया। उसकी कल्पना कभी उसे अपने निष्पन्द, निष्प्राण, जमुना के तल में समाए बच्चे को देखने को विवश करती; कभी मृत्यु-शय्या पर पड़ी सत्यभामा दिखाई पड़ती जो खोई-खोई-सी अपनी रिक्त आंखों से कुछ ढूंढ़ने की व्यर्थ चेष्टा में लगी है और इन कल्पनाओं में डूबा वह चौंक पड़ता, जैसे कोई पूछ रहा हो, 'बच्चा कैसा है?'

तभी वह मुस्कराकर यंत्रवत् उत्तर देता, 'बिलकुल ठीक है!'

सारे कम्पाउण्ड में निशिकांत के अतिरिक्त अब और कोई नहीं रहा था। उसने गम्भीर होकर अपने-आपसे कहा, 'सत्यभामा को बचाने के लिए मेरे अन्दर इतनी तीव्र लालसा क्यों...क्यों मैं उसे मरने नहीं देना चाहता...क्यों मैं...?'

और फिर अपने-आप इस 'क्यों' का सम्भावित उत्तर सोचकर वह बड़े ज़ोर से हिल उठा, 'नहीं-नहीं...!'

लेकिन उसकी वह तीव्र 'नहीं' भी 'क्यों' के सम्भावित उत्तर की सचाई से इन्कार नहीं कर सकी।

अधूरी कहानी

हिन्दू-मुस्लिम समस्या भारत की एक शाश्वत समस्या बन गई है। पाकिस्तान बन जाने पर भी इस समस्या का हल नहीं हुआ। इस कहानी में मैंने उस समस्या की जड़ में जाने का प्रयत्न किया है। बेशक समस्या का यह एक पहलू है लेकिन काल्पनिक नहीं है। इस कहानी का मैं साक्षी रहा हूं। बल्कि कहानी का एक पात्र मैं ही हूं। यह कहानी भी लोकप्रिय हुई है।

◇

नारों की आवाज़ धीरे-धीरे धीमी, फिर बहुत धीमी पड़ गई, प्लेटफार्म की भीड़ छंटने लगी और सब लोग अपनी-अपनी सीट पर आ बैठे। देखा—इसी बीच में एक मुस्लिम युवक एक हिन्दू सज्जन से उलझ पड़ा है। युवक कह रहा है, 'हम पाकिस्तान नहीं चाहते लेकिन कांग्रेस ने मजबूर कर दिया है। हम अब उसे लेकर छोड़ेंगे।'

हिन्दू साहब ने तलखी से जवाब दिया, 'पाकिस्तान ! जो पाकिस्तान आप छः सौ बरस की हुकूमत में न बना सके उसे अब गुलाम रहकर बनाना चाहते हैं। एकदम नामुमकिन।'

एक भारी बदन के मुसलमान, जो सामने के बर्थ पर बैठे हुए थे, बीच में बोल उठे, 'छः सौ नहीं साहब ! हमने नौ सौ बरस हुकूमत की है।'

'जी हां ! नौ सौ वर्ष !'

'और उन नौ सौ बरस में हिन्दू बराबर हमसे नफरत करते रहे !

'जी ! क्या कहा आपने ?' हिन्दू साहब बोले, 'नफरत करते रहे ? जो ज़ुल्म करता है उससे नफरत की जाती है प्यार नहीं किया जाता।'

उन मुसलमान भाई ने बड़े अदब से कहा, 'ज़ुल्म क्या है इसपर सबकी अलग-अलग राय है। पर मेरे दोस्त, आप लोगों ने हमें सदा दुरदुराया ! हमारी

छाया से आपको परहेज़ रहा। माना हम ज़ालिम थे। पर ज़ालिम के पास भी दिल होता है। वह कभी न कभी पिघल सकता है। लेकिन परहेज़ सदा मुहब्बत की जड़ खोदता है। वह नफरत करना सिखाता है। आपने हमसे नफरत की और चाहा कि हम आपसे प्यार करें। यह कैसे हो सकता था? माफ करना, मैं आप लोगों की कदर करता हूं। मैं मेल-जोल का पूरा हामी हूं, पर आप बुरा न मानें तो एक बात पूछना चाहूंगा।'

हिन्दू भाई की तेज़ी और तलखी अब कुछ घबराहट में बदलती जा रही थी और दूसरे मुसलमान साहब अनोखी अदा से मुस्कराने लगे थे। तो भी उन्होंने कहा, 'जी! ज़रूर पूछिए।'

वे मुसलमान भाई निहायत शराफत से बोले, 'अछूत हिन्दू हैं, पर आप उन्हें ताकत सौंप दीजिए, तब मैं पूछता हूं, वह आपसे प्यार करेंगे या नफरत?'

हिन्दू भाई सिटपिटाए। उन्हें एकाएक जवाब न सूझा। मुसलमान साहब उसी संजीदगी से कहते रहे, 'मैं जानता हूं आज आप उन्हें अपने बराबर मानते हैं। मेरे ऐसे हिन्दू दोस्त हैं, जो इन्सान-इन्सान के बीच के भेद को दुनिया का सबसे बड़ा पाप समझते हैं। पर मेरे दोस्त! भेद की इस लकीर को बराबर गहरी करने में, जाने या अनजाने, जो लोग मदद करते आए हैं, उनके पापों का फल तो भुगतना ही पड़ेगा। आप न समझिए, मैं आपकी जाति और धर्म पर हमला कर रहा हूं। मैं आपके धर्म को समझता हूं। मेरे दिल में उसके लिए जगह है। मैं मुसलमानों की कमियों से भी वाकिफ हूं पर दूसरों में कमी है यह कहकर कोई अपनी कमी को सही साबित करने की कोशिश करे, तो वह महज़ अपनी ज़िद और बेवकूफी ज़ाहिर करेगा। जो असलियत है उसका सामना करना ही इन्सान की इन्सानियत है। मैं आपको एक छोटी-सी कहानी सुनाता हूं। मुझे वह मेरी वालदा ने सुनाई थी।'

इतना कहकर वे पल-भर रुके। डिब्बे में तब तक सन्नाटा छा गया था। पता नहीं लगा गाड़ी कब चल पड़ी और कब 'शड़ाक-छू, शड़ाक-छू' की गहरी आवाज़ करती हुई अगले स्टेशन पर जा खड़ी हुई। सूरज डूबने लगा था। एक भाई ने स्विच दबा दिया। बिजली की हल्की रोशनी से डिब्बा चमक उठा।

तब उन भारी बदन के मुसलमान भाई ने कहना शुरू किया, 'मेरे दोस्तो!

बात आज से तीस बरस पहले की है। हमारे सूबे में एक छोटा-सा कस्बा है। उसमें हिन्दू-मुसलमान सभी रहते हैं। वे सदा आपस में मुहब्बत करते थे। एक-दूसरे के दुःख-सुख के साथी थे, लड़ते भी थे पर वह लड़ना प्यार की तड़प को और भी गहरा कर देता था। हिन्दुओं के त्यौहारों पर मुसलमान उन्हें बधाई देते थे। मौसम की पैदावार का लेना-देना चलता था। होली जलती तो जौ की बालें पहुंचाने का ज़िम्मा मुसलमानों पर था। ईद के दिन हिन्दू अपनी गाय-भैंसों का सारा दूध मुसलमानों को बांट देते थे। सवेरे ही दूध दुहकर वे अपने-अपने दरवाज़ों पर खड़े हो जाते और थोड़ा-थोड़ा दूध सब मुसलमानों को देते। उस दिन उनकी अंगीठियों से धुआं नहीं निकलता था, लेकिन उनके दिल की दुनिया खिल उठती थी। मैं नहीं जानता यह रिवाज कब और कैसे चला। इसकी बुनियाद ज़ुल्म पर भी हो सकती है। पर उन दिनों यह मुहब्बत, इन्सानियत और हमदर्दी का सबूत बन गया था। जो हो, उस साल भी ईद आई मुसलमानों के घर जन्नत बने। उनके बच्चे फरिश्तों की तरह खिल उठे। लेकिन दुनिया आखिर दुनिया है। यहां ज़िन्दगी के बगल में मौत सोती है। रंज हमेशा खुशी का दामन पकड़े रहता है। इसीलिए जब सब लोग हंस रहे थे, घर में एक बालक दुखी-मन चुपचाप अपनी अम्मां की चारपाई के पास बैठा था। उसकी अम्मां फातिमा बीमार थी। उसकी सांस फूल रही थी। वह बेचैन हाथ-पांव फेंक रही थी। लेकिन यह बेचैनी बुखार की इतनी नहीं थी जितनी कि खाविन्द की याद की। पारसाल अहमद का बाप ज़िन्दा था, तो घर में फुलवाड़ी खिली थी। वह अचानक एक दिन खुदा को प्यारा हुआ, घर वीरान हो गया। आज ईद आई है लेकिन···। एकाएक फातिमा को न जाने क्या सूझा, वह उठकर बैठ गई। उसने हांफते-हांफते कहा, 'मेरे बच्चे! कितना दिन चढ़ गया? तू दूध लेने नहीं गया?'

अहमद ने सिर हिलाकर कहा, 'नहीं अम्मी!'

फातिमा के दिल पर चोट लगी। उसकी आंखें भर आईं। वह अपने को कोसने लगी, 'मैं कैसी कमीनी हूं! साल का त्यौहार आया है और मेरा बच्चा इस तरह मोहताज, बेबस बैठा है। नहीं, नहीं, आज ईद मनेगी, ज़रूर मनेगी।'

और उसने कहा, 'जा अहमद! तू जल्दी जाकर दूध ले आ। मैं तब तक

तेरे कपड़े निकालती हूं। जा जल्दी कर मेरे बच्चे।'

'बच्चे ने एक बार अपनी अम्मी को देखा और फिर चुपचाप बाल्टी उठाकर बाहर चला गया। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। सब लोग दूध बांटकर अपने-अपने काम में लग गए थे। रास्ते में उसके साथी हंसते-हंसते दूध से भरे लोटे और बाल्टी लिए चले आ रहे थे। उन्होंने उसे देखा और अचरज से कहा, 'अरे! तुमने बहुत देर कर दी ? तुम अब तक कहां सो रहे थे ? अब तो सब दूध बंट चुका है। मियां, अब जाकर क्या करोगे ?'

'अहमद सुनता और उसका दिल बैठने लगता। उनकी बात ठीक थी। वह जिस दरवाज़े पर जाता, वहां फर्श पर पड़े दूध के छींटों के अलावा उसे कुछ नहीं मिलता। तब सचमुच उसका दिल भर आया। आंखें नम हो उठीं। लेकिन फिर भी उम्मीद की डोर पकड़े वह आगे बढ़ा चला गया कि अचानक एक दरवाज़े पर किसीने उसका नाम लेकर पुकारा, 'अहमद! अहमद!'

'अहमद ने रुककर देखा—पुकारनेवाला उसका सहपाठी दिलीप है। वह ठिठक गया। दिलीप दौड़कर आया, बोला, 'तू अब तक कहां था ? तेरी बाल्टी खाली है।'

'अहमद की आवाज़ भर्रा रही थी। उसने कहा, 'अम्मी बीमार है, मुझे देर हो गई।'

''तो।'

''दूध बिलकुल नहीं है ?'

''ना!'

'फिर कई पल तक वह दोनों उसी दरवाज़े पर, जहां आधा घण्टा पहले दूध लेनेवालों की आवाज़ गूंज रही थी, चुपचाप खड़े रहे कि अचानक दिलीप को कुछ सूझा। वह अन्दर दौड़ गया। जाते-जाते उसने कहा, 'तू यहीं ठहर, मैं अभी आया।'

'अन्दर वह सीधा अपनी मां के पास पहुंचा और धीरे से बोला, 'भाभी! कुछ दूध और है क्या ?'

'मां बोली, 'हां है, तेरे और मुन्ने के लिए है। तू पिएगा ?'

''नहीं।'

'अचरज से मां ने पूछा, 'तो ?'

' दिलीप नहीं बोला ।'

' 'अरे बात क्या है बता तो ।'

' 'अहमद को दूध नहीं मिला ।'

' 'कौन अहमद ?'

' 'वह मेरे साथ पढ़ता है । उसकी मां बीमार है इसलिए उसे देर हो गई ।'

'कहते-कहते दिलीप ने अपनी मां को ऐसे देखा जैसे उसने कोई कसूर किया हो । पर मां का दिल एकाएक खुशी से भर आया । वह मुस्कराई । उसने दूध का भरा लोटा उठाया और कहा, 'चल, बता कहां है तेरा दोस्त ।'

' दिलीप ने तब खुशी की छलांग लगाई । मां-बेटे दरवाज़े पर आए । अहमद उसी तरह खड़ा था । दिलीप ने हंसते-हंसते कहा, 'अहमद ! बाल्टी ला । जल्दी कर !'

' दिलीप के लोटे का दूध अहमद की बाल्टी में क्या आया, उसकी मुहब्बत अहमद के दिल में समा गई । मां ने पूछा, 'तेरी मां बीमार है ?'

' 'जी ।'

' 'तो सेवैंयां कौन बनाएगा ?'

' 'वही बनाएगी !'

' 'अच्छा, हमें भी खिलाएगा ना ?'

' अहमद ने सिर हिलाकर कहा, 'ज़रूर !'

' मां हंस पड़ी । बोली, 'भगवान तेरी मां को जल्दी अच्छा करेगा । जा, घर जा, जल्दी आता तो और भी दूध मिलता ।'

' और फिर दिलीप का हाथ पकड़कर उसकी मां अन्दर चली गई । उसका दिल बार-बार यही कह रहा था, 'परमात्मा मेरे बच्चे का दिल सदा इसी तरह खुला रखे !'

' उधर अहमद फूला-फूला घर आया । दरवाज़े में घुसते ही उसने पुकारा, 'अम्मी ! मैं दूध ले आया ?'

' फातिमा खिल उठी, 'ले आया ? बहुत अच्छा बेटा ! कहां से लाया ?'

' अहमद खुशी से बोला, 'अम्मी ! बहुत देर हो गई थी । सब दूध बंट चुका था लेकिन दिलीप ने अपनी मां से जाकर कहा और फिर वे मुझे इतना दूध दे गईं ।'

'फिर एकदम बोला, 'अम्मी ! दूध थोड़ा तो नहीं है ?'

''बहुत है, मेरे बेटे ! इतना ही बहुत है।'

''हां अम्मी ! सब दूध बंट चुका था। यह उसके अपने पीने का दूध था।'

''अपने !'

''हां ! अपने और छोटे भाई के। ज़रा-सा रखकर सब उसने मुझे दे दिया।'

'फातिमा का दिल भर आया। गद्गद होकर बोली, 'खुदा उसका भला करे ! उसने गरीब की मदद की है।'

'और फिर उन्होंने खुशी-खुशी ईद मनाने की तैयारी की। फातिमा का बुखार हल्का हो चला। उसने अहमद को नहलाया और कपड़े बदले। किसी तरह वह उसके लिए कुरता-पाजामा तो नया बना सकी थी पर जूता पुराना ही था। उसे तेल से चुपड़कर चमका दिया और टोपी पर नई बेल टांक दी। अहमद खुश होकर बाहर साथियों में चला गया। नमाज़ पढ़ने जाना था और उसके बाद मेला भी देखना था। सबकी जेबों में पैसे खनखना रहे थे। सबकी आंखें चमक उठी थीं ! सबके मन उछल-उछलकर मिठाई और खिलौनों की दुकानों पर जा पहुंचे थे। अगरचे अहमद के पास बहुत कम पैसे थे, पर क्या हुआ, उसका दिल तो कम खुश नहीं था। कम होता क्यों, अम्मी ने उसे बताया था कि उसके अब्बा दिसावर गए हैं, बहुत रुपये लाने। अगली ईद पर लौटेंगे। जैसे नियाज़ के अब्बा लौटे थे। यह क्या कम भरोसा था ? इसी भरोसे को लेकर वह ईदगाह पहुंचा। वहां उसने हज़ारों इन्सानों को एकसाथ नमाज़ पढ़ते देखा। उसके बाद उसने मेले की सैर की। चाट, मिठाई, फल, खिलौने सभी तरह की दुकानों की उसने पड़ताल की। उसने साथियों को झूलते देखा पर वह तो सब कुछ अगले साल के लिए छोड़ चुका था। इसीलिए जो कुछ पैसे अम्मी ने उसे दिए थे उन्हें ठिकाने लगाकर वह घर लौट आया। देखा सेवैयां बन चुकी हैं। गरम-गरम, लम्बी-लम्बी सेवैयां उसे बड़ी खूबसूरत लगीं। बीच-बीच में गोले की फांक पड़ी थीं। शक्कर की वजह से दूध कुछ पीला हो गया था। उसका दिल बाग-बाग़ हो उठा। फातिमा ने प्यार से देखा और कहा, 'मेरे बच्चे ! जा, कटोरा ले आ और खाला के घर सेवैयां दे आ। फिर मामू के घर जाना और फिर...'

'अहमद बोला, 'सबके घर देते हैं ?'

'हां बेटा ! वे भी तो हमें भेजेंगे।'

' 'अच्छा अम्मी, मैं अभी दे आता हूं।'

'और फातिमा ने दोनों कटोरों में सेवैयां भरीं और उनपर रूमाल ढंक दिया कि कहीं चील झपट्टा न मार ले। अहमद पहले एक कटोरा उठाकर चला लेकिन जैसे ही वह दरवाज़े से बाहर हुआ उसे एक बात याद आ गई—सेवैयां सबसे पहले दिलीप के घर देनी चाहिए। उसने मुझे दूध दिया था, अपने हिस्से का दूध !'

'बस, उसने अपना रास्ता पलटा। खाला के घर न जाकर वह दिलीप के घर की ओर चला। सोचने लगा, अम्मी सुनेगी तो बड़ी खुश होगी। बेचारी बीमार है। इसलिए दिलीप का नाम भूल गई। नहीं तो···। यही सोचता हुआ वह खुशी-खुशी दिलीप के घर पहुंचा। दरवाज़ा बन्द था। कुछ देर वह असमंजस में सकुचा हुआ खड़ा रहा फिर हिम्मत करके आवाज़ दी, 'दिलीप !'

'कोई नहीं बोला।

'फिर पुकारा, 'दिलीप !'

'इस बार किसीने जवाब दिया, 'कौन है ?'

'और साथ ही कहनेवाला बाहर आ गया। वह दिलीप का बड़ा भाई था। उसने अचरज से अहमद को देखा और पूछा, 'क्या चाहते हो ?'

'अहमद झिझका, फिर संभलकर बोला, 'दिलीप है ?'

' 'नहीं !'

' 'उसकी मां ?'

' 'मां ! मां से तुम्हारा क्या मतलब ?'

'अहमद ने कहा, 'मेरा नाम अहमद है। मैं दिलीप के साथ पढ़ता हूं। सवेरे उसने मुझे अपने हिस्से का दूध दिया था।'

'दिलीप का भाई मुस्कराया। तब तक दिलीप की मां और चाची भी वहां आ गई थीं। भाई ने कहा, 'तो फिर ?'

' 'जी सेवैयां लाया हूं। इन्होंने (मां को बताकर) कहा था कि···'

'अहमद अपना कहना पूरा करे कि दिलीप के भाई बड़े ज़ोर से हंस पड़े, कहा, 'भोले बच्चे ! जाओ अपने घर लौट जाओ।'

'चाची बोली, 'हम क्या तुम्हारी सेवैयां खा सकते हैं ? हमें क्या अपना ईमान बिगाड़ना है।'

'मां ने निहायत नरमी से कहा, 'बेटे ! मैंने तुमसे मज़ाक किया था। हम तुम्हारे घर की सेवैयां नहीं खा सकते।'

'अहमद एकदम सकपका गया। उसके छोटे-से दिल पर चोट लगी। फिर भी उसने हिम्मत बांधकर कहा, 'क्यों नहीं खा सकते ? हमने भी तो आपका दूध लिया था।'

'अब भाई ने उसे समझाया, 'बच्चे ! तुम बहुत अच्छे हो। परमात्मा तुम्हें खुश रखे। लेकिन हम हिन्दू हैं, और हिन्दू लोग तुम्हारे हाथ का छुआ खाना पाप समझते हैं।'

'अहमद पाप-पुण्य नहीं समझता था। उसे हिन्दू-मुसलमान के इतने गहरे भेद का अभी तक पता न था। वह सिर्फ दिलीप और उसकी मां की मुहब्बत की बात सोच रहा था। लेकिन यह बात सुनकर उसका दिमाग चकराने लगा। वह खिसिया गया, और जैसे ही घर जाने को मुड़ा उसका हाथ कांपा। सेवैयों में भरा कटोरा ज़ोर की आवाज़ करता हुआ वहीं उसी चौकी पर गिर पड़ा, जिसपर सवेरे-सवेरे दिलीप और दिलीप की मां ने दूध के रूप में अपनी मुहब्बत अहमद के दिल में उंडेल दी थी। सेवैयां चारों तरफ फैल गईं और अहमद की मुहब्बत पैरों से रौंदे जाने के लिए वहीं पड़ी रह गई।'

सहसा यहीं आकर कहानी को रुक जाना पड़ा। गाड़ी स्टेशन पर आ गई थी और मुझे यहीं उतरना था। डिब्बे की संजीदगी को भंग करता हुआ मैं अपना बैग उठाकर नीचे उतर गया। और नीचे आकर उनकी तरफ देखते हुए मैंने कहा, 'मैं नहीं जानता, आपकी कहानी कहां खतम होगी। पर इतना ज़रूर जान गया हूं, आप ही अहमद हैं।'

अहमद साहब मुस्कराए, उन्होंने कहा, 'आपने ठीक पहचाना, मैं ही वह लड़का हूं।'

मैंने पूछा, 'लेकिन सच कहना, मुहब्बत की वह लकीर क्या आज बिलकुल ही मिट गई है ?'

वह उसी तरह मुस्करा रहे थे, बोले, 'मेरे दोस्त ! इस दुनिया में मिटनेवाला कुछ भी नहीं है। मुहब्बत तो हरगिज़ नहीं। सिर्फ हमारी गफलत से कभी-कभी उसपर परदा पड़ जाता है।'

'तो', मैंने कहा, 'विश्वास रखिए, उस परदे को फाड़ देने में हम कोई कसर उठा न रखेंगे।'

इतना कहकर मैं चला आया। कहानी शायद आगे बढ़ी होगी। पर मेरे लिए यह अधूरी कहानी ही दिल का दर्द बन बैठी है। रात के सन्नाटे में कभी-कभी मेरे दिल में इतनी टीस उठती है कि क्या बताऊं...

आश्रिता

'आश्रिता' एक विचार का परिणाम है। इस संग्रह में जितनी कहानियां संगृहीत हैं उनमें शायद यह सबसे पहले लिखी गई है। इसका रचनाकाल १६३७ है। उन दिनों मेरा जैनेन्द्रजी से परिचय हुआ ही हुआ था। मुझे याद है इस कहानी को पढ़कर उन्होंने लिखा था, "मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है। ऐसी सूक्ष्मता हिन्दी में कहां मिलती है।" उन दिनों मैं कट्टर आर्य समाजी था और मैं समझता हूं उसका प्रभाव इस कहानी पर स्पष्ट है।

◊

सिरोही गांव के मिडिल स्कूल में जो नये मास्टर आए, उनका नाम था अजीतकुमार। संसार में वे अकेले थे, स्वदेश से दूर इस स्कूल में आने के लिए उन्हें नाम-मात्र भी क्लेश नहीं हुआ। यों तो स्कूल-मास्टर गांव के सार्वजनिक जीवन का नेता होता है, पर परिवार के मोह-बन्धन से मुक्त अजीत मास्टर ने उस गांव को कुटुम्ब करके माना। तब दूसरे मास्टरों के प्रति उन ग्रामीण जनों का जो परम कौतूहल का रुख होता था वह उनके प्रति न टिक सका। अजीत मास्टर शीघ्र ही सबके लिए सहज-गम्य हो गए। स्कूल के उपरान्त जो जीवन बचा था, उसे उन्होंने किसी नियम से न बांधा था, सो उस बाधा-बन्धनहीन जीवन को सार्वजनिक बनाकर वह निर्भय थे।

उसी गांव के मनोहर ठाकुर की कन्या थी सोना, जो विधवा होकर बाप के घर रहती थी। अपना कहने के लिए उसका एक भाई था। वह स्कूल के चौथे दरजे में शहर से पढ़ता था। ससुरालवाले गरीब थे पर बाप के पास घर का घर था और कुछ नहरी ज़मीन भी। उसीको लगान पर उठाकर वह भाई का पालन-पोषण किए जा रही थी। गांव का जो घरेलू जीवन था उसमें उसकी काफी पहुंच थी। ज़रूरत के वक्त वह पीछे न हटती। जिनका और कोई न था

उनकी वह थी। उनके दुःख में आठों पहर बनी रहती और उन्हें अपना ही समझती।

उसके छोटे भाई का नाम था किसुन। मां-बाप के लाड़-प्यार की बात उसने जानी न थी पर भाग्य से था सुन्दर। सबसे नम्र और दरजे में सबसे आगे रहता। अजीत ने उसे देखा और जाना—बालक प्रतिभासम्पन्न है। स्वभाव से वे उसकी ओर खिंचे। उसके रूप और गुण पर तो सब लोग मुग्ध थे लेकिन अजीत उससे भी आगे बढ़े। उन्होंने किसुन और सोना की निराश्रयता को मिटाकर उनके भार को सहज ही स्वीकार कर लिया। मानो अजीत जो पुरुष था उसे शासन करने को मिला और सोना जो नारी थी, उसका कोमल हृदय सदा किसी नवीन स्नेह से परिपूर्ण रहने लगा। लेकिन गांववालों ने इस बढ़ती हुई घनिष्ठता को उत्साह-हीन नेत्रों से देखा। यदि उनकी भावना को शब्दों का रूप दिया जाए तो उसका यह अर्थ होगा कि हमें यह सब ज़रा भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ा, अपितु लगता है जैसे गांव में पाप की छाया आ घुसी है।

सन्ध्या की गोदी में लेटा हुआ सिरोही गांव उनींदी आंखों से आकाश की ओर ताक रहा था और बादलों के पीछे छिपे हुए तारागण कभी-कभी उस मुग्ध और निस्तब्ध ग्राम-श्री की ओर झांक-भर लेते थे। बादल थे, सो सरदी कम थी, गांव में सन्नाटा था। द्वार बन्द किए सब सोच रहे थे—आज पानी बरसेगा।

उसी समय ऊपर के कमरे में बैठे हुए अजीत मास्टर अपनी मानसिक विचारधारा पर विजय प्राप्त करने की असफल-सी चेष्टा कर रहे थे। चाहते थे आज जो विचार मेरे मानसिक जीवन में आ चुके हैं उन्हें कहीं दूर देश में निर्वासित कर दूं। पर रास्ता नहीं पा रहे थे। कमरे की दीवार पर जो छोटा-सा लैम्प लटका दिया गया था उसकी चिमनी नीले रंग की थी। इसीसे कमरे में धुंधला-सा नीला प्रकाश फैल रहा था और जब कभी सामने की खुली हुई खिड़की से आकर बिजली का प्रकाश क्षण-भर के लिए वहां बिखर जाता, तो समूचा कमरा जैसे लज्जा से मुखरित हो उठता।

अजीत उसी तरह बैठा था। उसकी दुखी परन्तु गम्भीर मुख-मुद्रा स्वाभाविक असंयमता को परे अकेले-धकेले अद्भुत रूप से संयमित हो उठी थी, मानो

उसका ग्रनुत्तप्त विशाल हृदय किसी ग्रनहोनी भावना के पंजे में फंसकर तड़फड़ा उठा हो। सहसा उसे सुन पड़ा, 'ग्राप कब तक ग्रौर बैठे रहेंगे मास्टर साहब ?'

चौंककर देखा —दरवाज़े के पास ग्राकर सोना खड़ी हो गई है। स्वाभाविक स्नेह से बोले, 'क्या देर हो गई सोना ? ग्राता हूं।'

सोना गई नहीं, खड़ी ही रही।

ग्रजीत ग्रब किसी ग्रज्ञात भावना से भरा-सा ग्राया। बोला, 'क्या ग्रभी चलूं ?'

सोना कमरे के ग्रन्दर ग्रा गई, 'जब ग्राप चाहें, पर क्या ग्राप बता सकेंगे, इतनी देर से ग्राप क्या सोच रहे थे ?'

ग्रजीत इस ग्राकस्मिक प्रश्न के लिए तैयार नहीं थे, मानो वज्रनिपात हुग्रा। निस्तब्ध-से बैठे रहे, बोले नहीं।

सोना कहती रही, 'जितना ग्राप उस बात को छिपाने की चेष्टा करेंगे उतनी ही वह उलझती जाएगी। तब ग्राप उसे स्पष्ट क्यों न कर दें···?'

ग्रौर कहकर वह ग्रद्भुत रूप से मुस्करा उठी। उसकी मुस्कराहट में जो तीव्र व्यंग्य था उसकी चोट से ग्रजीत तड़फड़ा उठे पर कुछ कहने का साहस फिर भी नहीं हुग्रा। उधर सोना की मुस्कराहट धीरे-धीरे पिघलने लगी, ग्रांखों में ग्रांसू भर ग्राए। खड़ी थी, ग्रब बैठ गई। बोली, 'तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, मास्टर साहब! क्यों ये लोग मेरे पीछे पड़े हैं ?'

ग्रजीत ग्रनुत्तप्त-हृदय-सोना की यह दशा देखकर व्याकुल हो उठे। उनसे ग्रब चुप न रहा गया। बोले, 'दुनिया की बात कहती हो सोना! उसने तो इसे पाप करके माना है, सो कैसे जानें कि जो वे कहते हैं झूठ भी हो सकता है ?'

'ग्राखिर वे क्या चाहते हैं ?'

'यही कि हम एक-दूसरे के पास भी न फटकें।'

कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। बाहर वर्षा होने लगी थी। हवा के झोंके के साथ कुछ बूंदें ग्रन्दर भी घुस ग्राईं। सामने के टीन पर पानी पड़ने से जो ग्रावाज़ पैदा हुई उससे बाहर का सन्नाटा भंग हो चला; पर ग्रजीत ग्रौर सोना के हृदय में उमड़-घुमड़कर जो सन्नाटा छाया, वह न टूटा। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। सोना ही फिर बोली, 'ग्रौर मास्टर साहब!'

'ग्रौर,' इतना कहकर ग्रजीत कांप-सा गया। देखा, सोना सब सुनने-सहने

को तैयार होकर आई है लेकिन···। उसने अपने को खूब संयत बनाकर कहा, 'और सोना ! क्या हम लोग विवाह कर लें ?'

इतना कहकर अजीत भयंकर वेग से हिल उठा । उसे लगा जैसे समूचा कमरा, कमरे के सामने की टीन की छत और दीवार पर लगा हुआ लैम्प, यह सब हिल उठे, पर सोना नहीं हिली । केवल चेहरे पर लाली भर आई। संयत स्वर में बोली, 'जानती हूं नारी के लिए वे इससे अधिक नहीं सोच सकते, परन्तु मास्टर साहब ! क्या किसी विधवा के प्रति ज़रा भी सहानुभूति दिखाना उससे विवाह करने के लिए होता है ? क्या प्रेम का अंत प्रेयसी की वासना में ही है ? दुनिया ने माना है— विवाह की इच्छा के बिना विधवा युवती कभी किसीके साथ रह ही नहीं सकती···।'

कहते-कहते उसकी वाणी कठोर हो उठी। आवेश के मारे उससे बोला भी न गया। अजीत चित्र-लिखित-सा सोना को देखता रहा । क्या है जिसने इस भोली-भाली ग्रामीण बालिका को इतना तर्कशील बना दिया है । भीगी हुई रात्रि के अन्धकार में कितनी असहाय है वह विधवा नारी। पर कितनी निर्मम होकर पूछती क्या है, दुनिया को चुनौती देती है। क्यों यह पुरुष प्रत्येक नारी को पत्नी के रूप में देखने को लालायित हो उठता है ?

अजीत इसका जवाब सोचकर भी न पा सका । क्षण-भर के लिए उसने आंखें मूंदकर उस चित्र को अपने मानस-पट पर देखा और फिर सोमा के अनुतप्त चेहरे पर। तो भी मानो जिन विचारों को वे परे न हटा सकते थे वे अब स्वयं ही मिट चले । उस समय अजीत अपने प्रति किसी निदारुण क्रोध की ज्वाला से भर उठे । उन्हें लगा कि सोना के प्रति उन विचारों को हृदय में लाकर जो पाप उनसे बन पड़ा था, उसका निवारण वे अनन्त काल तक जन्म-मरण के बन्धन में आकर उसकी चरण-वन्दना करने से भी नहीं कर सकेंगे । तब अन्दर ही अन्दर जैसे वे रो उठे। सोना की ओर देखकर बोले, 'जाता हूं सोना !'

'नहीं-नहीं,' सोना जैसे चौंककर उठ बैठी, 'क्या भोजन नहीं करेंगे आप ?'

अजीत ने जो लालटेन जलाई थी, उसे उठाकर कहा, 'आज जी नहीं करता सोना ! जाने दो।'

सोना बोली, 'रोकनेवाली मैं कौन होती हूं, मास्टर साहब ! पर एक बात

कहती हूं, उसे सुन जाइए।'

अजीत कांपकर इतना ही बोला, 'सोना!'

'डरो नहीं मास्टर साहब, वह बात आपको हल्का ही करेगी। कहती हूं, दुनिया का क्या दोष है इसमें? उसने सदा से ही ऐसा किया और जाना है।'

अजीत ने फिर भी कहा, 'अब कुछ न कहो सोना!'

'सो कैसे होगा? आप यह बात सुने बिना तो न जा सकेंगे आज।'

अजीत एकसाथ गम्भीर और विचलित होता गया। उसने सोना के बदलते हुए भावों को देखा और एक असहाय वन्दी की भांति तड़पकर रह गया।

सोना बोली, 'बात जब जी में उठी है, तो उसे क्यों न कहूं? जानती हूं मैं विधवा हूं और विधवा जब हुई थी तो मेरे हृदय पर बहुत गहरी चोट पहुंची—मानो विश्व का सारा दुःख साकार होकर मेरी छाती पर आ तना है, पर क्या मैं मर सकी? इसीसे फिर दुनिया का झमेला हुआ। मैं अकेली थी और था मेरा भरा हुआ यौवन, जिसे लेकर मुझे जीने की चिन्ता करनी थी···'

'······आपको क्या होने लगा मास्टर साहब। जी घबराता है तो बैठ जाइए या लेट जाइए।' पर अजीत हिला भी नहीं। सोना कहती रही—'और तब मास्टर साहब! पड़ोस के अनेक दयालु युवक मेरी ओर झुके। शहर था वह। मैं उन्हें रोक भी न सकी थी। रोकती कैसे? मैंने बचपन में ही सीखा था—मैं स्त्री हूं। मास्टर साहब! जब मैं कुंआरी थी, तो स्वयं मेरे पितृकुल के एक सम्बन्धी ने ···!'

'ओह!' —सोना सिर से पैर तक कांप गई।

अजीत ने चिल्लाकर कहा—'सोना, सोना! क्या है यह?'

'घबराइए नहीं'—सोना ने अपने को संभाला। 'सच ही कहती हूं मास्टर साहब! पर वे आगे नहीं बढ़ सके थे, तो भी अन्दर ही अन्दर जो भावना मुझमें भरी वही आगे फली-फूली। पर कब तक? मेरी नींद भी जागी, लेकिन तब मेरा जो अपना था वह मैं लुटा चुकी थी······।'

अजीत ने करुण पागल की भांति कहा, 'जी भरा आ रहा है सोना! मुझे जाने दो।'

सोना हंसकर बोली, 'जानती हूं आपके जी में क्या भरा आ रहा है—भय

और घृणा ? उनसे क्या होगा मास्टर साहब ! जी में तो साहस और विश्वास भरना होगा । जाइए, साहस हो तो चले जाइए । कब रोक सकती हूं, अबला हूं मैं !'

'सोना, सोना !'

'सो तो मैं आपके पास ही बैठी हूं ।'

और फिर कहने लगी, 'उनमें कई कवि भी थे, जो तारों को देख कविता किया करते थे । कई माया में विचरनेवाले युवक थे पर एक वकील का लड़का भी उनमें था । उसने कहा था—'मुझसे विवाह कर लो सोना ! रानी बनाकर रखूंगा ।' पर विवाह का नाम सुनकर मैं कांप उठी । दूसरी बार भी स्त्री का विवाह हो सकता है, यह बात मैं न जानती थी । ऊंची जाति की हिन्दू-विधवा विवाह नहीं कर सकती, यही मैंने सुना था सो माना था । तभी भागकर मैं यहां आ गई । जानती हूं वह पाप नहीं था, पर नियम में जो श्रद्धा मैंने पाई थी उसने मुझे भरमा लिया, मैं फिर वहां नहीं गई ।'

यहां आकर सोना चुप हो गई ।

अजीत ने इतना ही कहा, 'जाऊं !'

सोना नहीं बोली । लालटेन उठा ली और ज़ीने के पास आकर खड़ी हो गई । मानो उसने कहा, 'सब सुन लिया तो जाइए ।'

अजीत खूब संयत होकर सीढ़ियों पर उतरने लगा । पैर नीचे रखते ही उसे लगता—अब गिरा ! अब गिरा ! तब वह एकदम दौड़कर नीचे आ गया । सोना लालटेन थामे ऊपर ही खड़ी रही ।

अजीत ने कहा, 'किवाड़ बन्द न करोगी सोना ?'

सोना हंसकर बोली, 'आज खुले ही रहने दीजिए । क्या है मेरा जो कोई मुझसे मांगेगा ?'

'सोना,' नीचे खड़े-खड़े अजीत ने गम्भीर परन्तु धीमी वाणी से कहा ।

'जाइए मास्टर साहब ! साहस न खोइए, निर्बल का बल राम है, उसे भूलकर तो आप रास्ता भी न पावेंगे ।'

सोना मुड़ चली । अजीत ने कहा, 'नमस्कार सोना !'

सोना स्थिर होकर बोली, 'नमस्कार मास्टर साहब !'

और फिर लौट पड़ी, नीचे वह गई नहीं । बिस्तरे पर किसुन सोया था,

मुग्ध होकर उसे देखने लगी। निद्रा देवी की गोदी में दुनिया के इस दुर्गम और कठोर मार्ग को भूलकर वह खेल रहा था, चिर-कल्याण-सुन्दरी कल्पना के साथ। उस बालक के मुख पर उसने मानो देखा—भय तो कहीं भी नहीं है, है केवल भावना की सूझ, तो उनसे यह परे है। अन्धता के इस आवरण में अभी यह घिर नहीं सका है। मैं जो हूं···।

तभी किसुन जागकर बोला, 'जी-जी-ई···।

सोना करुण स्वर में बोली, 'भैया मेरे!'

किसुन फिर सो गया। सोना भी उससे लिपटकर सोने के लिए लेट गई, मानो उस अथाह और अगाध सागर में यही बालक उसका अवलम्ब था। लेकिन दीवार पर लटका लैम्प और देहली पर रखी हुई लालटेन उसके साहस रूपी चन्द्रमा में कलंक बनकर वहीं उसी तरह पड़ी रही।

अगले दिन अजीत जब स्कूल गए तो किसुन नहीं आया था। उन्होंने सोचा, क्यों नहीं आया वह? फिर उनके भीतर कुछ उमड़-घुमड़ आया, पर छाती चीरकर देख न सके। काम करते रहे। बीच-बीच में ध्यान आ जाता पर साहस न होता, कहें किसीसे—जाकर देखना, भैया किसुन कहां रहा?

अपनी इस निर्बलता को जानकर उन्हें क्रोध भी हो आया और शायद तभी लड़कों ने जाना भी कि आज मास्टर साहब हंसते-हंसते खीझ उठते हैं।

इसी बीच में आधी छुट्टी की घंटी बज उठी। लड़कों ने मानो जीवन पाया, मानो बछड़े को गैया के थन मिले। सबके सब खोमचे पर टूट पड़े। खोमचेवालों ने भी अपने संतोष का फल खूब मीठा करके लिया, एक के तीन उन्होंने पाए।

जो गरीब थे वे धूप में बैठकर समय को खाने लगे। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने किताबों से सिर भी न उठाया। किसुन भी उन्हींमें से था, पर आज वह दीख नहीं रहा था। अजीत मास्टर इसी विचार में डूबे-डूबे अखबार के पन्ने पलट रहे थे। हरेक पन्ने पर वे यही लिखा पाते थे—ओह! कैसी है यह जड़ता जिसने मुझे बांधा है। इसे तो लांघना होगा, नहीं तो जो मार्ग है वह अवरुद्ध रहेगा और तब जीते-जी मरना होगा। सोच रहे थे, पर आ गए हरसुख चौधरी। देखकर बोले—'आप हैं! बैठिए, बैठिए!' चौधरी हैं-हैं कहते बैठ गए। फिर

कुछ स्कूल की बात छेड़ी। अन्त में बोले—'तो मास्टर साहब ! सोना फिर सुसराल चली गई ?'

अजीत समझे नहीं, 'क्या कह रहे हैं आप ?'

'वही जो है ? क्या आप नहीं जानते ?'

'कुछ भी नहीं।'

आज सवेरे मैंने देखा, किसुन को लेकर सोना स्टेशन की ओर जा रही थी। पूछा, 'बिटिया किधर को ?' तो बोली, 'ताऊ ! जहां मुझे रहना था, वहीं जा रही हूं।' सो तुम समझे उसका क्या मतलब था ?'

अजीत के मन ने क्या समझा ? सो कैसे बतावे ? उसके लिए आसमान गिरा या धरती फटी, उन्हें कैसे रोके? उसकी चेतना-शक्ति नष्ट हो चली। कुर्सी पर बैठा-बैठा आसमान में उड़ चला।

चौधरी ने फिर कहा, 'पर उसका वहां है कौन ?'

अजीत ने सुना और दोहरा दिया, 'हां, उसका वहां है कौन ?' पर दूसरे ही क्षण संभलकर बोला, 'है क्यों नहीं, चौधरी साहब ! पति की देहली क्या उसके लिए सब कुछ नहीं है ? माना आकारवाली कोई वस्तु वहां नहीं है पर नाम को कौन मिटा सकता है ?'

चौधरी को यह सदुपदेश बहुत रुचा। जो कहने आए वे उसे भूलकर श्रद्धा से भर चले, ठीक कहते हैं आप, यही बातें हैं, जो आज दुनिया भूल चली है।'

और वे उठकर चले गए। अजीत सोचता ही रहा—कैसी है यह सोना ? उसने अपने को रोका नहीं और छिपाया भी नहीं, जो मन में आया कह चली। आवरण के नीचे हम सब ही नंगे हैं, पर इस तरह आवरण उठाकर फेंकने का साहस किसने किया। तो भी मार्ग की अवरुद्धता जिसे छू भी नहीं सकी थी वही सोना आज छिपकर क्यों भागी ? वह मुझसे कहती तो क्या मैं रोक सकता ? यही गुत्थी अजीत सुलझा न सका।

उसके तीसरे दिन की बात है। अजीत स्कूल जाने के लिए सोच रहा था कि किसुन सामने आ खड़ा हुआ।

अचरज से अजीत भर आया, 'तुम आ गए किसुन ?'

'जी हां,,जीजी ने कहा है, स्कूल की पढ़ाई है, उसे क्या छोड़ना होगा?'

'ग्रौर तेरी जीजी नहीं ग्राई?'

'जी नहीं, वे ग्रब नहीं ग्राएंगी।' हाथ जोड़कर कहा है, 'कृपा कर ज़मीन का काम मास्टर साहब ही देखें।'

ग्रजीत श्रद्धा से जैसे भर-सा ग्राया। मानो वह जो ग्रजीत मास्टर है, यही कच्चा था। करुणा ग्रौर ममता के दो शब्द उसका जो कुछ कोमल है उसे पाने के लिए बस है।

ग्रौर इन बातों को तीन महीने बीत गए!

ग्रजीत सोच रहा था कि ग्रबकी बार बाड़ी ग्रच्छी होने से जो लाभ हुग्रा था, उसमें से सोना को भी कुछ भेजना चाहिए। किन्तु उसने सुना, ग्रार्य-समाज मन्दिर में जाकर सोना ने एक वकील के लड़के के साथ पुनर्विवाह कर लिया है।

शीत की ठिठुरती हुई वायु के समान यह समाचार गांव-भर में फैल गया। गांव के चिरपरिचित मार्ग से होकर वह घर-घर में बे-रोक-टोक घुसा। चौपाल के कोने-कोने में उसने धूनी रमाई ग्रौर फिर पनघट पर पानी पीता हुग्रा पिछवाड़े के तालाब में ग्रनन्त काल के लिए समा गया।

कल्याणी ने ग्रचरज को साकार बनाकर कहा, 'सुना तुमने जीवन की भाभी! सोना ने पुनर्विवाह किया है।'

'हां-ग्रां!'—भाभी चौंक पड़ी मानो उसके सामने पानी नहीं रक्त था।

घड़े को घाट पर रखते-रखते पीताम्बरी बोल उठी, 'क्या ग्राज जाना है तुमने? न जाने कब से मास्टर के पीछे पड़ी थी। वह नहीं फंसा तो वहां जाकर छापा मारा।'

कल्याणी श्रद्धा से भर उठी, 'मास्टर खरा सोना है।'

दुलारी से भी न रहा गया। बोली, 'दया तो उसमें भी बहुत थी। जीवन के बेटे को हाथों पर रखा था।

कल्याणी चूकी नहीं—'सो तुम ठीक कहती हो दुलारी! एक जीवन के बेटे को क्या? न जाने कितनों को उसने जीवन दिया, पर बुरा काम तो बुरा ही है।'

'बुरा क्या है जीजी!' दुलारी ने कहा, 'जी नहीं माना तो धर्म से एक की हो गई। घर-घर पाप जगाती तो न फिरी।'

कुछ भी हो। अजीत मास्टर ने उस गांव में पुनर्जन्म पाया। सोना के पुनर्विवाह से मानो गांव की श्रद्धा को भोजन मिला, फिर पनप उठी। लोग उन्हें देखते और कहते—आदमी क्या है, हीरा है। लेकिन अजीत के जी की किसने जानी। ऐसा लगता था जैसे वे अपना सब आनन्द-उल्लास खो चुके हैं, जैसे जीवन में अब अपना कुछ भी नहीं रहा है। मानो उनकी सारी सद्भावनाएं पछाड़ खाकर छाती पर टूट पड़ीं। सारे विश्व को उन्होंने भूकम्प से हिलते देखा। विश्वास और श्रद्धा जैसे उन्हें ढूंढ़े भी न मिली। वे सचमुच सोना के प्रति कठोर हो उठे—क्या हुंकार थी उसमें, मानो चंडी का रूप हो; पर मुंह-लगा खून क्या छोड़े बनता है? इसी सिलसिले में चौधरी से कहा भी, 'जिसे लाल समझा था वह पत्थर निकला!'

चौधरी ने मानो मुराद पाई, 'सच कहता हूं आप ही थे जो बच निकले, नहीं तो नारी का मंत्र किसने कीला है?'

अजीत खुश होकर भी आप ही कांप-सा गया।

चौधरी फिर बोले, 'कहता हूं, आप झगड़े में क्यों पड़े? पड़ी रहने दीजिए उसकी ज़मीन।'

नशे में भरा अजीत बोला, 'ठीक कहते हैं आप। दूसरे के झगड़े में क्यों पड़ूं?' परन्तु जब घर लौटा तो किसुन मन मारे खाट पर लेटा था। अजीत ने कहा, 'तू कब जाएगा?'

किसुन जो बालक था, बोला, 'कहां?'

'अपनी जीजी के पास।'

'नहीं जाऊंगा।'

अचरज से अजीत बोले, 'क्यों?'

किसुन ने कहा, 'जब आया था तो जीजी ने कहा था—'तुम मास्टर साहब के पास ही रहना।''

'हां···' अजीत इतना ही स्पष्ट बोल सके और इस 'हां' ने तीव्र हुंकार द्वारा उन्हें सिर से पैर तक हिला डाला। वे इतने उत्तेजित हुए कि आंखों में आंसू भर आए। दस बरस का बालक क्या आप ही ऐसी बात कह सकेगा? यह तो

मानने को वे तैयार नहीं थे ! कितना भोला है किसुन, उफ ! उनका हृदय अत्यन्त व्याकुल हो आया। सन्ध्या के उस बढ़ते हुए अंधकार में वे चुपचाप किसुन के पास बैठकर सोचने लगे—-क्या करूं तो ?

और उसी रात को अजीत ने देखा, अनेक बार भय से कातर होकर बालक पुकार उठा था, 'मास्टर साहब ! मास्टर साहब !'

अजीत ने भी मानो स्नेह में भरकर कहा था, 'किसुन !'

लेकिन जागकर किसुन बोला नहीं, चुपचाप पड़ा सोता रहा। अजीत अपनी खाट से उठे और उसके पास आकर बैठ गए, फिर धीरे-धीरे उस मातृ-पितृ-विहीन बालक को छाती से चिपटाकर अपनी शय्या पर ले आए। बालक उनकी छाती पर हाथ धरे-धरे सोता ही रहा मानो जो उसका अवलम्ब शेष रहा था वह भी न खो जाए। पर तब भी अजीत का मन यही कह रहा था, 'उसने मुझ-से कुछ भी न छिपाया, पर वह दूसरे की क्यों हुई ?'

और यूं ही चलते-चलते एक समूचा वर्ष और बीत गया। बाड़ी इस साल भी खुब फली-फूली पर सोना को भेजने की बात न उठ पाई। अजीत के मन ने सोना को पकड़ा था सो छोड़ा तो नहीं, पर देखने-सुनने से आग्रह जैसी बात कोई जान न पड़ी। सोना ने भी अपने को घर-गिरस्ती की चिन्ताओं में इतना फंसा लिया कि सिरोही की सुध लेने का विचार कभी सामने आया ही नहीं !

किसुन चौथे दर्जे से निकलकर पांचवें में आ गया। उसने जीजी की बात को पकड़ा तो, पर बालक का मन एक दिन उलझ ही पड़ा, 'जीजी के पास जाऊंगा।'

अजीत ने चपरासी के साथ उसे सोना के पास भेज दिया। एक हफ्ता रह-कर वह लौट आया। जब आया तो अजीत ने पूछा, 'तेरी जीजी अच्छी तो है ?'

'जी हां मास्टरजी ! और वहां एक छोटी-सी मुन्नी भी थी।'

अजीत सुनकर न जाने कैसा हो गया। उसने जाना सोना के लड़की भी हुई है। फिर सोचा—सोना सुखी है, सो अच्छा है।

और किसुन कहता रहा, 'बड़ी सुन्दर है और हंसती रहती है...' इत्यादि।

अजीत हंसता रहा, 'और कुछ भी कहा था ?'

'जी हां, जीजी ने कहा है, 'सुन, अब तू यहां मत आना। पढ़ाई का हर्ज होगा।'

सुनकर अजीत सन्न-सा हो गया। अपने एकमात्र भाई को भी भूल जाना चाहती है वह ? ऐसी निर्मम कठोरता को कैसे पाया जा सकता है ? गांव के बालकों पर जो जी-जान से मरती थी वही सोना अपने भाई को देखना भी नहीं चाहती ? मानो अपने अजीत को वह पूर्ण रूप से इस जगती से मिटा डालना चाहती है। पर जानती नहीं, एक दिन उसे भी मिटाकर अजीत की पुस्तक में एक पृष्ठ और जोड़ देना होगा।'

सोचता-सोचता वह अपने-आप ही समर्थ-सा हो आया। तभी आ गए हरसुख चौधरी।

'आइए-आइए !'—अजीत बोला।

चौधरी आए थे सो बैठ गए और बोले, 'एक बात कहने आया था। सुनेंगे आप ?'

'हां-हां, कहिए !'

'आप बनारस ही तो रहते हैं ?'

'हां, किसी दिन रहता था। अब सिरोही में हूं।'

चौधरी खिलखिला पड़े, 'सो तो है ही, पर सोचता था आप भी क्यों न चलें।'

'कहां ?'

'बनारस। हमारा तीर्थ होगा और आप देश हो आएंगे।'

अजीत कुछ सोचने लगा। चौधरी के प्रति वह किसी विशेष श्रद्धा से तो नहीं भरा था पर चौधरी अवश्य अजीत को देवता मानकर चलते थे, इसीसे कहना पड़ा, 'मैं चलूंगा और किसुन भी।'

'हां, हां, वह भी क्या कहने की बात है।' चौधरी मानो कृतज्ञता से दब-से गए।

इन्हीं दिनों अचानक एक पत्र अजीत को मिला। वह सोना के शहर से आया था, 'लिखा था, परसों सोना के पति का स्वर्गवास हो गया !'

न भेजनेवाले का नाम था न कुछ दूसरी बात उसमें थी। सोना के और था भी कौन जो पत्र लिखता ? पति उसका अपना था सो उसे गंवाकर वह फिर अकेली थी। पत्र में सोना का नाम था सो अजीत ने जान लिया और जानकर खत फाड़कर फेंक दिया। जो होना था सो हो गया, वह अजीत के लिए बाधा-

बन्धन क्यों बने ? किसुन को भी उसने कुछ नहीं कहा। वैसे ही बनारस जाने की तैयारी करता रहा ।

हां, तो कल वह जाएगा और जाकर उधर ही कहीं लगने की चेष्टा भी करेगा। यहां लौटकर आने को उसका मन नहीं मान रहा है। उस 'क्यों' को वह स्पष्ट तो नहीं कर पाता पर न लौटने को जी जमता ही जाता है। मार्ग में रुकावट है तो 'सोना' है पर वह यथाशक्ति उसे अपने से दूर ही रखता है। और फिर उसके प्रति अजीत ने ऐसी अश्रद्धा पाई है कि मन करने पर भी बुद्धि रास्त रोक लेती है। किसुन है, वह उसे साथ ले जाएगा और साथ ही रखेगा। स्नेह से भरकर उसने पूछा, 'किसुन, तुम बनारस में पढ़ सकोगे न ?'

'हां-हां।'

'तब मैं भी रहूंगा।'

अजीत मानो भर-सा गया। अतृप्ति जैसे कहीं छिपी बैठी थी सो मिट चली।

और तभी किसुन चिल्ला उठा, 'जीजी !'

चौंककर अजीत लौट पड़ा। सोना ही थी वह, सचमुच वही थी। वही स्नेह से परिपूर्ण आंखें, दृढ़ और संयत चेहरा पर कुछ-कुछ दुबली, कुछ-कुछ अपने को भूली-सी, जैसे झंझावात वायु के थपेड़े की चोट से दबी-दबी। मानो रूप में जो रस था उससे कुछ-कुछ रीती पर वेदना से भरी-भरी। ऐसी ही सोना बालिका को कन्धे से चिपटाए हुए उसी निर्भीकता से वहां आकर खड़ी थी। और अजीत ? जैसे स्थान, भाव, भाषा सब कुछ भूलकर अनन्त धारा में बह चला। वहां ही चला जाता तो क्या था, पर वह तो बार-बार रुककर कह उठता है, 'क्या करूं मैं ? अरे क्या करूं ?'

वहीं खड़ी-खड़ी सोना इतना ही बोली, 'आज फिर मैं आश्रय मांगती हूं, क्या दोगे ?'

रग-रग में तिरस्कार जैसे भर चला था। कठोर होकर बोला, 'तुम यहां आने का साहस कैसे कर सकीं ?'

सोना वैसे ही खड़ी रही। बोली, 'साहस ? उसीके सहारे तो आज तक जी रही हूं। तो भी आप डरे क्यों ? दुनिया सूनी नहीं है पर···'

गला जैसे रुंधने लगा था।

अजीत बोला नहीं, वह सोचता है, ऐसे आदमी बोलना खूब जानते हैं। फिर भी 'पर' जो था वह स्पष्ट होना ही चाहिए ! इसीसे उसने सप्रश्न सोना की ओर देखा।

सोना संभलकर बोली, 'पर आज मार्ग अवरुद्ध है मास्टर साहब ! रास्ते में मातृत्व की पुकार लिए यह बालिका पड़ी है। सो क्या अनसुनी की जा सकेगी ?'

अजीत की छाती में मानो भूकम्प उठा, 'सोना ! सोना !'

'जा रही हूं मैं !' उसने कहा और लौट चली।

'नहीं ! नहीं !'

'क्या कहते हो और ?'

अजीत ने व्यग्र होकर कहा, 'अब नहीं जा सकोगी तुम······'

उस समय डूबते हुए सूरज की किरणें मानो उसके मुख पर अपने जीवन की कहानी का अन्तिम पृष्ठ लिख रही थीं। उसकी छाती के भीतर भी कुछ विदाई जैसा करुण दृश्य चित्रित हो आया था। वह फिर बोला, 'पर सोना, क्या तुम बताओगी, उस दिन तुम चली क्यों गई थीं ?' सोना के कन्धे से चिपकी हुई बालिका हिल उठी। स्तब्ध होकर उसने कहा, 'मास्टर साहब···'

'कहो सोना।'

सोना ने कहा, 'आप चाहते हैं तो कहूंगी। मैं जान गई थी, आप भी मुझे अपनी बनाना चाहते थे। जानकर मैं दुःखी हुई, पर सोचा, पुरुष होकर तुम अपने उस स्वभाव को कैसे भूलते ? स्वभाव की प्रबलता मुझपर उसी दिन प्रकट हुई। आप चाहते थे मैं आपकी होती, यह अच्छा ही था। पर मास्टर साहब ! जिसके आश्रय के आवरण के नीचे आकर मैंने अनाथा की भांति लाड़-दुलार पाया; जिसकी ओर देखकर मैंने अपने हृदय को ममता से उमड़ते देखा उसी-के······ओह ! उसीके सामने अपना आवरण कैसे हटाती ? और फिर मैं······।'

सोना फूट-फूटकर रोने लगी।

'सोना ! सोना !'···अजीत जैसे पृथ्वी में गड़ चला।

'अब जाऊं, मास्टर साहब ! आप डरें नहीं, आत्महत्या नही करूंगी। मरना-जीना क्या कभी आप होता है ? वह तो विधाता की बात है। आत्महत्या करना

उसकी बात में दखल देना है, सो पाप है।'

और वह मुड़ चली।

उसी समय नीचे से चौधरी ने पुकारा, 'मास्टर साहब ! ओ जी मास्टर साहब !'

अजीत के रुंधे प्राण मानो मुक्त हुए। उसने लपककर सोना की लड़की को उठा लिया और दौड़कर नीचे आ गया। 'आप मुझे क्षमा करें। मैं न जा सकूंगा। यह देखिए, यह सोना की लड़की है और सोना भी आई है। बेचारी का सोहाग-सिन्दूर फिर मिट गया, सो बाप के घर रहने को लौटी है। देखिए, चौधरी साहब ! कैसी सुन्दर है यह कन्या ? क्या इसे छोड़ते बनेगा ?'

मेरा बेटा

'अधूरी कहानी' की तरह इसकी प्रेरणा भी मैंने हिन्दू-मुस्लिम समस्या में से पाई है। पंजाब में रहा हूं और इस समस्या की भयंकरता को मैंने देखा ही नहीं भोगा भी है। कैसे-कैसे इस समस्या ने मेरे मस्तिष्क पर प्रभाव डाला उसीका परिणाम यह कहानी है।

◇

सिविल अस्पताल का नया सर्जन डाक्टर हसन जैसे ही कमरे में दाखिल हुआ, उसने किवाड़ बन्द कर लिए। ठण्डी हवा का झोंका, जो साथ-साथ अन्दर घुस आया था, क्षण-भर के लिए उसके पिता को कंपाता हुआ गायब हो गया। डाक्टर ने एक गहरी सांस खींची और हाथ के दस्ताने उतारते हुए कहा, 'अब्बा, बड़ी खतरनाक हालत है!'

अब्बा जो पलंग पर लेटे थे, 'हूं' करके रह गए। डाक्टर ने चुपचाप ओवर-कोट उतारा और खूंटी पर टांग दिया, फिर अंगीठी के पास जा खड़ा हुआ, बाहर सनसन करती हुई हवा चल रही थी और उस ठंड को, जिसके थपेड़े खाते हुए वह अभी लौटा था, याद करके उसे अब भी कंपकंपी आ जाती थी। एकाएक अब्बा बोल उठे, 'अब तक कितने आदमी मर चुके होंगे?'

डाक्टर ने जवाब दिया, 'अस्पताल में कुल तीस लाशें आई हैं।'

'और ज़ख्मी?'

'सौ हो सकते हैं।'

'मुसलमान ज़्यादा होंगे?'

डाक्टर क्षण-भर रुका, फिर हाथों को मलता हुआ बोला, 'कुछ नहीं कहा जा सकता।'

'फिर भी?'

वह झिझका, जैसे कुछ सोचना चाहता हो। अब्बा तब तक उसके मुंह की तरफ देखते रहे। उसने हाथों को आग के आगे किया और कहा, 'हो सकता है, हिन्दू ज़्यादा हों।'

फिर कई क्षण कोई नहीं बोला। सिर्फ हवा दरवाज़े पर थपेड़े मारती रही। अब्बा के मुख पर अनेक भाव आए और गए, उनके तने हुए चेहरे की नसें और भी तन गईं, एकाएक बैठे-बैठे उन्होंने कहा, 'तो कोई उम्मीद नहीं ?'

'किस बात की ?' हसन ने चौंककर पूछा।

'फैसले की।'

'फैसला ?' डाक्टर ज़बरदस्ती मुस्कराया और फिर जोश में बोला, 'अब्बा, हज़ार साल इस तरह लड़ते रहने पर भी फैसला नहीं हो सकता। असली बात यह है कि वे फैसला करना ही नहीं चाहते, वे लड़ना चाहते हैं और लड़ते रहेंगे, इसीलिए वे एक-दूसरे की बात समझने से इन्कार करते हैं।'

'इन्कार करते हैं ?'

'हां अब्बा, मैं तो इसे इन्कार करना ही मानता हूं। समझना चाहें तो झगड़ा ही क्या है ?'

अब्बा ने एक बार अपने बेटे को देखा, फिर कहा, 'शायद तुम ठीक कहते हो।'

'शायद नहीं अब्बा, मैं बिलकुल ठीक कहता हूं।'

तभी किसीने दरवाज़ा खटखटाया, डाक्टर चौंका।

पूछा, 'कौन है ?'

जवाब आया, 'जी, अस्पताल में डाक्टर शर्मा ने आपको बुलाया है।'

'क्यों ?'

'एक नया केस आया है साब !'

'तो ?'

'साब, उन्होंने कहा है, ज़ख्मी की हालत खतरनाक है, आपका आना ज़रूरी है।'

अब्बा ने सुनकर गुस्से से कहा, 'क्या वाहियात बात है, अभी आए हो। खाना न पीना। मरने दो उसको।'

डाक्टर बोला, 'मरना तो है ही अब्बा, आज मौत के फरिश्ते ने हम सब-

को अपने परों के साये में समेट लिया है।'

और फिर किवाड़ खोले, ठण्डी हवा तेज़ी से अन्दर घुसी, उन्होंने कांपते हुए कहा, 'खाना खा सकता हूं ?'

आनेवाला अस्पताल का जमादार था, सिकुड़ते हुए जवाब दिया, 'साब, वह तो जल्दी बुलाते हैं।'

डाक्टर ने लम्बी सांस खींची, कहा, 'अच्छा तो कह दो, अभी आता हूं।' और उसने जल्दी से किवाड़ बन्द कर लिए, सीधे अंगीठी के पास आया और कहा, 'खून जमा देनेवाली सरदी पड़ रही है, और वे लोग लड़े जा रहे हैं, वहशी, हैवान, दोज़खी, कुत्ते···!' साथ ही साथ दस्ताने पहनता रहा फिर ओवर-कोट उठाया और चलते-चलते कहा, 'मैं कहता हूं अब्बा, वे हैवान हैं, वे फैसला नहीं कर सकते।'

अब्बा अगरचे क्रोध में भरे हुए थे पर न जाने क्या हुआ कि हसन की बात सुनकर हंस पड़े। बोले, 'हैवान बड़ी जल्दी फैसला करता है बेटे!'

वह कुछ जवाब देता कि इस बार अन्दर के दरवाज़े पर आहट हुई, वह मुड़ा, देखा, सामने उसकी बीवी खड़ी है। उसने गरम शाल लपेट रखी है और उसके सुन्दर मुख पर क्रोध-भरी मुस्कराहट है। पास आने पर वह कुछ नाराज़ी से बोली, 'अभी आए और चल दिए, क्या मुसीबत है ?'

'खुदा जाने क्या होनेवाला है बेगम।'

'खाना नहीं खाओगे ?'

'कैसे खाऊं, बुलावा आ गया है।'

बेगम के हाथ में कुछ बिस्कुट थे, उन्हें डाक्टर के ओवर-कोट की जेब में डालते हुए कहा, 'चाय तो पी लेते।'

डाक्टर मुस्कराया, बोला, 'तुम बहुत अच्छी हो बेगम।'

और फिर उसके मुंह पर आई हुई एक लट को पीछे करते हुए वह जल्दी से मुड़ा और कहा, 'अब नहीं रुक सकता बेगम! देर हो गई तो शायद पछताना पड़ेगा।'

बेगम ने कुछ जवाब नहीं दिया, उसका सुन्दर मुखड़ा परेशानी से उदास हो गया था। दुःखी मन से उसने डाक्टर को जाते देखा और देखती ही रह गई। डाक्टर दरवाज़ा खोलकर जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ बाहर निकल गया।

बूटों की तेज़ आवाज़ के साथ सनसनाती हुई हवा एक बार तेज़ी से उठी और फिर धीमी पड़ने लगी। चटकनी लगाकर अब्बा फिर पलंग पर आ बैठे, तभी पास के कमरे से एक हलकी लड़खड़ाती हुई आवाज़ आई। डाक्टर हसन के बाबा ने पूछा, 'अनवर, हसन आया था, अब फिर कहां गया?'

'अस्पताल!'

'क्यों?'

'क्यों, क्या कोई और ज़ख्मी आ गया है, यह काफिर न जीते हैं, न जीने देते हैं।'

बात इतनी तलखी से कही गई थी कि बाबा कुछ जवाब नहीं दे सके, नौकर पास बैठा था, उससे कहा, 'जा, पूछ तो उसने कुछ खाया कि नहीं, और कुछ न हो तो बिस्कुट वगैरा लेकर वहीं दे आ, जा...'

उधर डाक्टर हसन जैसे ही अस्पताल में दाखिल हुआ, डाक्टर शर्मा ने बेचैनी से कहा, 'हसन, तुम आ गए, जल्दी करो, वह कमरा नम्बर ६ में है और आपरेशन का सामान तैयार है।'

हसन ने ज़रा शिकायत-भरे ढंग से कहा, 'ऐसी क्या बात है, खाना तक नहीं खाने दिया।'

'क्या करूं हसन, हम लोगों का काम ही ऐसा है।'

'केस क्या बहुत सीरियस है?'

'हां, केस बहुत सीरियस है हसन, उसके बदन का कोई हिस्सा ऐसा नहीं है, जिसपर चोट न आई हो। चोट भी ऐसी है कि देखकर दिल कांप उठता है।'

'होश में है?'

'आह, होश? मुझे अचरज है कि वह ज़िन्दा कैसे है?'

'क्या उसका ज़िन्दा रहना ज़रूरी है?' हसन ने उसी तरह कहा, 'उसके मर जाने पर क्या दुनिया मिट जाएगी?'

शर्मा बोला, 'मैं जानता हूं, पर जब तक वह मर नहीं जाता, तब तक उसे ज़िन्दा रखने का बोझ हमपर आ पड़ा है, क्या करें?'

वे चल रहे थे और बातें भी करते जाते थे। वे घायलों के वार्ड में दाखिल

हो चुके थे ग्रौर दर्द-भरी चीख-पुकारें सुनाई पड़ने लगी थीं, दरवाज़ा खोलते-खोलते हसन ने पूछा, 'वह कौन है ?'

'एक बूढ़ा हिन्दू है।'

'यहीं का रहनेवाला है ?'

'नहीं, परदेसी है। जेब में जो कागज़ मिले हैं उनसे पता लगता है कि वह कानपुर का रहनेवाला है ग्रौर उसका नाम रामप्रसाद है।'

हसन ने धीरे से दोहराया, 'रामप्रसाद, कानपुर बस ?'

'बस।'

उन लोगों ने कपड़े बदले ग्रौर फिर नर्सों ग्रौर कम्पाउण्डरों से घिरे हुए उस ज़ख्मी के ऊपर झुक गए, जो बीसों ज़ख्म खाकर ग्रापरेशन की मेज़ पर बेहोश पड़ा हुग्रा था। उसकी सांस बहुत ग्राहिस्ता-ग्राहिस्ता चल रही थी ग्रौर ग्रधखुली ग्रांखें दिल में डर पैदा करती थीं।

ग्रापरेशन खत्म करके जब वे बाहर निकले तो पूरे पांच घंटे बीत चुके थे। वे बेहद थके हुए थे ग्रौर उनके तमाम बदन में दर्द हो रहा था। वे उस हवा में इतने डूब चुके थे कि दूर तक साथ-साथ चलते रहने पर भी वे एक दूसरे से नहीं बोले। शाम हो चुकी थी, पर हवा की सनसनाहट उसी तरह गूंज रही थी। उसके थपेड़े खाकर वे कभी कोट का कालर ठीक करते, कभी कदम तेज़ करके गर्मी पैदा करना चाहते। उसी वक्त एकाएक डाक्टर शर्मा ने धीरे से कहा, जैसे नींद में बड़बड़ाते हों, 'कैसा ग्रजीब केस है।'

डाक्टर हसन ने भी धीरे से कहा, 'पर मुझे खुशी है, हम उसे बचा सकेंगे।'

'शायद।'

'नहीं शर्मा,' हसन ने पूरे भरोसे से कहा, 'मुझे यकीन होता है, वह बच जाएगा।'

डाक्टर शर्मा ने हसन की ग्रोर देखा फिर मुस्कराकर कहा, 'तुम्हें यकीन होता है, क्योंकि तुमने उसके लिए परिश्रम किया है।'

'वह केस ही ऐसा था, उसे देखकर मुझे लगा कि इसे बचना चाहिए…।'

'क्योंकि उसके बचने में तुम्हारी विद्या का इम्तहान है।'

डाक्टर हसन ने एकाएक डाक्टर शर्मा को देखा। उसे जान पड़ा वह ठीक

कह रहा है, केस जितना खतरनाक था, उसको बचाने का खयाल भी उतना ही ज़्यादा था।

यह जानकर डाक्टर हसन को गहरा सन्तोष हुआ और उसने खुश होकर कहा, 'मेहनत तो तुमने भी की है शर्मा।'

'पर तुम्हारी तरह नहीं।'

हसन ने इस बात का जवाब नहीं दिया, पहले की तरह चुपचाप चलता रहा। उसका घर सामने दिखाई पड़ रहा था। उसीको देखकर वह बोला, 'मैं समझता हूं, घर जाने से पहले तुम एक प्याली चाय पीना पसन्द करोगे।'

शर्मा ने मुस्कराकर कहा, 'ज़रूर करूंगा। सारा बदन टूट रहा है।'

हसन हंसा, बोला, 'और इस बात की क्या गारण्टी है कि हमें अभी फिर उसी कमरे में नहीं लौटना पड़ेगा?'

'हां, कौन कह सकता है?'

'लेकिन शर्मा, उस आदमी का पूरा पता मालूम होना चाहिए। देखने में किसी बड़े घर का जान पड़ता है।'

शर्मा ने उसी तरह कहा, 'मैंने पुलिस को पूरी रिपोर्ट दे दी है। वह पता लगा लेगी और न भी लगे तो क्या है, न जाने कौन-कौन मरता है।'

'वह नहीं मरेगा शर्मा, उसपर आज मैंने बाज़ी लगाई है।'

शर्मा मुस्कराया, 'तब और भी ज़रूरत नहीं है।'

घर आ गया, किवाड़ खोलते हुए डाक्टर हसन ने कहा, 'बैठो शर्मा, मैं चाय के लिए कहता हूं।'

और फिर अब्बा की ओर मुड़कर कहा, 'अब्बा, वाकई वह बड़ा खतरनाक केस था, लेकिन उम्मीद है कि वह बच जाएगा। शर्मा और मैं अब तक उसी-पर लगे थे।'

शर्मा ने हसन के अब्बा को आदाब अर्ज़ किया। जवाब देकर अब्बा बोले, 'कौन है?'

'कोई बड़ा आदमी है।'

'एक बूढ़ा हिन्दू है। अच्छे घर का जान पड़ता है।'

'यहीं का रहनेवाला है?'

शर्मा ने कहा, 'जी नहीं, परदेसी है। जो कागज़ात उसकी जेब में मिले हैं,

उनसे पता चलता है कि वह कानपुर का रहनेवाला है और उसका नाम रामप्रसाद है।'

अब्बा एकाएक चौंके, 'क्या···क्या बताया···रामप्रसाद···कानपुर···?'

'जी।'

'और कुछ?'

'जी नहीं।'

'उसके साथ कोई और नहीं है?'

'जी नहीं।'

हसन लौट आया था और अब्बा की बेचैनी को ध्यान से देख रहा था, बोला, 'क्या आप उसे जानते हैं?'

अब्बा का चेहरा तन चला था और उनकी आंखों में गुस्से की हल्की लकीरें उभर आई थीं। उन्होंने अनजाने ही तलखी से कहा, 'वह मरा नहीं है?'

शर्मा ने जवाब दिया, 'मरने में कुछ कसर तो नहीं थी, परन्तु डाक्टर हसन ने अपनी होशियारी से उसे बचा लिया है।'

अब्बा ने अब हसन की तरफ गौर से देखा और देखते रहे। हसन को उनका यह व्यवहार बहुत अजीब-सा मालूम हुआ। उसने अब्बा के पास जाकर पूछा, 'अब्बा, क्या आप उन्हें जानते हैं?'

जैसे बिना सुने उन्होंने कहा, 'रामप्रसाद···कानपुर···उसके मुंह पर दाईं तरफ एक मस्सा है।?'

'है।'

'उसका रंग गोरा है और उसकी शक्ल···?'

'उसकी शक्ल,' हसन ने एकाएक अब्बा की तरफ देखा। जैसे बिजली कौंधी हो, आपरेशन करते समय उसके मन में यह विचार आया था कि इसकी शक्ल तो अब्बा से मिलती है। अब्बा उसी तेजी से बोले, 'हां, मेरी तरफ देखो, उसकी शक्ल कुछ-कुछ मुझसे मिलती है?'

हसन कांपा, 'अब्बा···'

अब्बा अपनी सुध-बुध खो रहे थे। उनके चेहरे की झुर्रियों में नफरत उभरती आ रही थी। उन्होंने जलती हुई आंखों से हसन की तरफ देखा और कहा, 'हां, मैं कानपुर के रामप्रसाद को जानता हूं और मैं उससे नफरत

करता हूं...।'

हसन जैसे पागल हो चला था, 'आप उससे नफरत करते हैं, क्यों...?'

'हां, मैं उससे नफरत करता हूं और उसके मरने का मुझे ज़रा भी रंज नहीं है।'

वे बुरी तरह कांपने लगे थे। उनकी आंखों में क्रोध और उत्तेजना के कारण पानी भर आया था। पर हसन को जैसे कुछ याद आ रहा था। कुछ, वह जो प्यारा होकर भी कड़ुआ था, उसके अब्बा की इस बेचैनी का कारण था। 'अब्बा की बेचैनी'—वह आहिस्ता से अपने-आप से बोला, 'नहीं, यह केवल अब्बा की बेचैनी नहीं है, यह तो...'

ठीक उसी समय अन्दर के कमरे के किवाड़ भड़भड़ाकर खुल गए। सबकी नज़रें उस ओर उठीं, देखा, नौकर के कन्धे पर हाथ रखे डाक्टर हसन के बूढ़े दादा अन्दर चले आए हैं। उनके बाल सफेद हो चुके थे और कमर झुक गई थी। उनके हाथ-पैर लड़खड़ाते थे और आंखें देखने से इन्कार कर चुकी थीं। उन्हें देखकर हसन के अब्बा घबराकर उठे और दोनों हाथों से थामकर उन्हें पलंग पर ले आए। बोले, 'आज आप इतनी सरदी में क्यों उठे?'

दादा ने कुछ नहीं सुना और लड़खड़ाते हुए कहा, 'अनवर, तुमने अभी किसका नाम लिया था। कौन आया है?'

'कोई नहीं, अब्बा।' हसन के अब्बा अनवर ने शान्ति से जवाब दिया, 'यहां तो हसन के साथी शर्मा साहब बैठे हैं।'

'नहीं अनवर, मैंने अच्छी तरह सुना, तुम उसका नाम ले रहे थे।'

डाक्टर शर्मा एक अजीब भूलभुलैया में फंस गए थे। वे कभी हसन को और देखते कभी अब्बा को, और कभी बाबा को। पर उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। हसन चुपचाप जेब में हाथ डाले बाबा पर नजर गड़ाए हुए था। उसके मुख पर अब थकान नहीं थी, बल्कि एक गहरे दर्द ने उसे परेशान कर दिया था। इसके खिलाफ उसके अब्बा की नफरत गहरी होती जा रही थी और बाहर हवा उसी तेज़ी से सर पटक रही थी। अनवर ने अब्बा को आराम से सहेजकर पलंग पर लिटा दिया और फिर धीरे-धीरे चारों ओर से कम्बल ढकने लगे।

दादा उसी तरह बोले, 'अनवर, तू बोलता क्यों नहीं?'

'अब्बा...'

'हां, वह कहां है ? तू उसका नाम क्यों ले रहा था ?'

अनवर की आवाज़ कुछ लड़खड़ाई, उन्होंने कहा, 'अब्बा, वह यहां नहीं आए।'

'तो...?'

'अस्पताल में है।'

दादा की आवाज़ एकाएक और भी दर्दनाक हो उठी, 'क्या...क्या कहा—अस्पताल में ?...क्यों...?'

जब हसन से नहीं रहा गया, तो आगे बढ़कर उसने कहा, 'हां दादा, कानपुर-वाले रामप्रसाद अस्पताल में पड़े हैं, ज़ख्मी हो गए थे, लेकिन अब बेहतर हैं,' सुनकर दादा ने कम्बल को दूर फेंक दिया और लड़खड़ाते हुए बोले, 'रामप्रसाद ज़ख्मी हो गया...कैसे हुआ...किसने किया...?'

'शहर में जो दंगा हो रहा है उसीमें...'

'मुसलमानों ने उसे मारा,' दादा ने अब सब कुछ समझकर कहा, और क्षण-भर के लिए ऐसे हो गए जैसे प्राणों ने साथ छोड़ दिया हो। फिर उनकी आंखों से आंसू बहने लगे, आवाज़ भर गई, बोले, 'अनवर, उसे मुसलमानों ने मार डाला और तुमने मुझे बताया भी नहीं, तुमने...।'

'दादा, मैं उनको जानता नहीं था।'

'पर तूने कहा, वह अभी ज़िंदा है ?'

'हां, दादा।'

'अस्पताल में ?'

'हां, दादा।'

'तो हसन, मेरे बच्चे !' उन्होंने उठने की कोशिश करते हुए कहा, 'तू मुझे उसके पास ले चल, मैं एक बार उसे देखूंगा, वह मेरा बेटा है, मेरा बड़ा बेटा...,' कहते-कहते दादा फूट-फूटकर रोने लगे, उनसे उठा नहीं गया, कटे हुए पेड़ की तरह वहीं लुढ़क गए, अनवर ने उन्हें देखा और पुकार उठे, 'हसन, जल्दी करो अब्बा को गश आ गया है।'

हसन न कांपा, न घबराया, आगे बढ़कर उसने आलमारी में से दवा निकाली और उसे प्याले में डालते-डालते बोला, 'शर्मा, क्या तुम इंजेक्शन तैयार

नहीं कर दोगे ?'

'ज़रूर कर दूंगा।' शर्मा, जो अब सब समझ गया था, बोला और उठकर स्प्रिट में सुई साफ करने लगा। हसन ने दवा दादा के गले में डाली। फिर पुकारा 'दादा!'

'कोई आवाज़ नहीं।'

'दादा-आ...'

अनवर ने पुकारा, 'अब्बा...'

धीरे-धीरे उनको होश आया। होंठ फड़फड़ाए, बोले, 'कहां है वह ? मेरा बेटा...मेरा बेटा...'

'अब्बा...'

'मैं उसके पास जाऊंगा।'

हसन ने कान के पास मुंह ले जाकर धीरे-से कहा, 'अभी चलते हैं दादा! आप ज़रा अपने को संभालिए तो...!'

उन्होंने उसी तरह कांपते हुए कहा, 'मैं होश में हूं, मेरे बच्चे, मैं उसके पास जाऊंगा, आखिर वह मेरा बेटा है, कोई गैर नहीं, मैं मुसलमान हूं और वह हिन्दू, वह मुझसे, मेरे बच्चों से नफरत करता है, पर...पर वह भी मेरा बच्चा है। मैं उससे नफरत नहीं करता हसन...हसन...।'

'हां दादा।'

'हसन, मैं उससे पूछूंगा, मैं मुसलमान हो गया तो क्या हुआ, हमारा बाप-बेटे का नाता तो नहीं टूट सकता, आखिर उसकी रगों में अब भी मेरा खून बहता है, इतना ही जितना अनवर की रगों में बहता है, शायद ज़्यादा...।'

उनकी आवाज़ फिर धीमी पड़ रही थी। वह रो-रो उठते थे। दोनों डाक्टर उनके ऊपर झुके हुए थे और अनवर ने उनकी नाड़ी संभाल रखी थी।

बाहर अंधेरा बढ़ा आ रहा था और हवा शान्त पड़ रही थी, अन्दर बेगम आंखों में आंसू भरे, दुःखी दिल से, चाय लिए बैठी थीं, और वह चाय न जाने कब की ठण्डी होकर काली पड़ गई थी।

अभाव

'अभाव' दो मित्रों के बीच हुए एक विवाद का परिणाम है। इसं कहानी के प्रोफेसर मेरे वही मित्र हैं और मैं कहूंगा उन्होंने जो घटना मुझे सुनाई उसको बस मैंने अपने शब्दों में लिख भर दिया। इस कहानी को लेकर भी काफी चर्चा हुई।

◈

ज्यों-ज्यों प्रोफेसर वर्मा की तृष्णा बढ़ती त्यों-त्यों अभाव की रेखा भी गहरी होती। रसवादी प्रोफेसर और रस-सागर के बीच एक अभेद्य दीवार थी, जिसके पार वे रस के लहराते समुद्र को देख तो सकते थे, पर उस तक पहुंचना असंभव था। इसी कारण अनजाने ही एक नयी प्रवृत्ति उनके भीतर जन्म ले रही थी—वे पास-पड़ोस के तथा सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का सूक्ष्म अध्ययन करने लगे थे। हर आदमी के साथ सुख-दुःख लगा रहता है परन्तु जैसे ही वे किसीके दुःख को खोज निकालते, उनका हृदय अनायास ही उल्लास से भर उठता। परन्तु दुनिया तो विचित्र है। कभी-कभी ऐसा होता कि प्रोफेसर किसी व्यक्ति में ज़रा-सा भी दुःख न ढूंढ़ पाते। तब उसको हंसते देखकर उनकी छाती में हूक उठने लगतीं और वे दीर्घ निःश्वास खींचकर कहते, 'आह! कितना सुखी मनुष्य है?'

बात यह है कि अभी-अभी उनके पड़ोस में एक नया परिवार आ बसा है। केवल दो प्राणी, पति और पत्नी। दोनों सुन्दर, सुसंस्कृत और मधुरभाषी। सदा हंसते रहते और जब किसीसे बोलते, तो दादी की कहानी की राजकुमारी की तरह मुख से फूल झरते। देखते-देखते वे पड़ोस की चर्चा का विषय बन गए। हर एक गोष्ठी में, चाहे वह पुरुष-वर्ग की हो अथवा नारी-वर्ग की, उनकी सज्जनता, विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा बड़ी श्रद्धा से की जाने लगी और सबको उनके सुखी जीवन से ईर्ष्या हो आई। स्त्रियों की सभा में उनकी पत्नी की विशेष सरा-

हना की जाती। युवतियां कहतीं—कैसी सुन्दर है; गोरा-गोरा रंग, सुग्रा-सी नाक, काली-कजरारी ग्रांखें ग्रौर स्वस्थ सुडौल शरीर। जी करता है, बैठे-बैठे देखा करें। ग्रौर हमेशा हंसते ही रहे हैं।

'हां बहिन! हमेशा हंसते ही रहे हैं जैसे फूल झड़ते हों। ग्रौर बोली कितनी मीठी है। जाते-जाते पूछ लेगी, 'कहो बहिनी! क्या बना रही हो?' 'ग्रजी बहिनजी, हमें भी दिखा दो क्या बुन रही हो!' 'ग्रोहो बड़ा सुन्दर हाथ है तुम्हारा।'—ऐसे ही सबका मन बढ़ाती रहे है।'

'ग्रौर बहिन! एक बार पूछो तो दस बार बतावे है। फिर-फिरकर समझावे है। इस तरह बतावे है कि बस मन में उतरता चला जा है। उसपर सिफत यह है कि ज़्यादा बात भी नहीं करे।'

एकसाथ कई युवतियां उनकी हां में हां मिलातीं। एक कहती, 'सो तो है ही बहिन।'

दूसरी बोलती, 'हां जी! बड़ी भली है, परमात्मा उसे सुखी रक्खे।' तीसरी कहती, 'जी करे है बहिन कि सदा उसके साथ रहूं।'

इसपर एक कहकहा लगता। कोई मनचली कह उठती, 'दुर पगली! उसका मालिक क्या तेरी जान को रोवेगा?'

जब हंसी रुकती तो बूढ़ी दादी बोल उठती, 'बहू, मुझे तो उसकी एक बात बड़ी प्यारी लगे है।'

'क्या जी?'

'बस हमेशा काम करती रहे है ग्रौर सब काम करे है। नहीं तो नये ज़माने की लुगाई क्या ऐसी हो हैं। बाज़ार जा है, मगर क्या मजाल जो कभी पत्ता चाटे। सीधी जा है ग्रौर सौदा लेकर लौट ग्रावे है। घर में बुहारी-झाड़ू, चौका-बासन सब ग्राप करे। काते भी है। कहवे थी—मांजी! कातना मुझे बड़ा प्यारा लगे है। घर्र-घर्र में तो जैसे भगवान गावे हैं। मोहिनी-सी छा जावे है। चक्की भी पीसे है।'

बहू ने ग्रचरज से कहा, 'जी, क्या सच!'

'ग्रौर क्या झूठ कहूं हूं! तेरी तरह ना है। दो हरफ पढ़े ग्रौर मेमसाब सेज पर जा सोई। ग्रौर उसे क्या कम सुख है। मालिक पलकों पर रखे है। दोनों जून दोनों जने हवाखोरी को जा हैं जैसे सीता-राम की जोड़ी हो।'

दूसरी बहू कहती, 'पर मांजी, एक बात है; अभी उसकी गोद सूनी है। उमर तो उसकी काफी हो गई।'

मांजी जवाब देतीं, 'बहू, देखने में तो लौंडिया-सी लगे है। दिन आएंगे तो गोद भी भरेगी। आजकल बच्चे ज़रा बड़ी उमर में हो हैं।'

इस तरह जहां भी दो औरतें मिलतीं, घर में, मेले-ठेले में, हाट-बाज़ार में, शादी-गमी में, वहीं उनकी चर्चा आपसे आप अनजाने ही चल पड़ती। प्रोफेसर वर्मा की पत्नी भी सब बातें सुनती है। वह स्वयं उसकी बड़ी प्रशंसक है क्योंकि अपनी आंखों से अपनी छत से सब कुछ देखती है। उनकी छत से छत मिलती है। जब प्रोफेसर की पत्नी ऊपर आती, तो कभी-कभी पड़ौसिन से दो बातें कर लेती। पर अभी वे बातें बहुत आगे नहीं बढ़ी हैं। एक तो प्रोफेसर की पत्नी बातें कम करती है और करती है तो साधारण औरतों की बातों में उसे ज़्यादा दिलचस्पी नहीं है। लड़ाई है, लड़ाई की वजह से जीना दूभर हो गया है। महंगाई बढ़ रही है, और महंगाई छोड़िए, पैसा है पर चीज़ नहीं है। खरीज का न जाने क्या हुआ? दियासलाई, मिट्टी का तेल, चीनी, मसाले, इन सबके अभाव में गिरस्ती बस जंजाल बन गई है।

पड़ौसिन मुस्कराकर कहती, 'बहिन, यह तो जीवन का एक रस है। अभाव न हो तो भाव को कौन पूछे। अपनी असलियत का पता आदमी को ऐसे ही चलता है।'

प्रोफेसर की पत्नी भी अनायास मुस्करा उठती, 'सो तो तुम ठीक कहती हो बहिन, पर जी को दुख तो होता ही है।'

'दुख तो बहिन मानने का है। मानो तो दुख का अन्त नहीं है और मानो तो मौत भी सुखदायी है।'

और फिर प्रोफेसर की पत्नी की ओर देखती और हंसकर कहती, 'पर बहिन, दुनिया में रहकर इस मानता से कौन बचा है? वे कहते थे कि दुख सभी को होता है। पर हां, दुख को दुख मानकर भी जो उसे सहने की शक्ति रखते हैं उनके लिए दुख भी सुख हो जाता है।'

प्रोफेसर की पत्नी उसके पति की विद्वत्तापूर्ण युक्ति का क्या जवाब देती और बात एकदम रुक जाती। कभी बेबी रो उठती, कभी प्रोफेसर पुकार लेते। प्रोफेसर को यह सब पसंद नहीं है। पत्नी जब-जब उसकी प्रशंसा करती, वे अनमने-

से हो उठते। कभी-कभी तो चिनचिना पड़ते।—'छोड़ो जी उसकी बातें, बनती है।' पर पत्नी को ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई पड़ती। फिर भी वह सोचा करती—शायद ये सच कहते हैं, वरना कोई इतना खुश कैसे रह सकता है। मैं उससे मेल बढ़ाऊंगी तब उसकी असलियत का पता चलेगा।

मेल बढ़ाने का एक मौका अचानक दूसरे ही दिन आ गया। यद्यपि उसका आरम्भ दुखमय था, पर इसीलिए वह स्थायी था। बात यह है कि मां की तरह बेबी भी अक्सर मुंडेर पर चढ़कर उनके घर में झांका करती है। ठीक मुंडेर पर पीपल के दरख्त की कुछ शाखाएं झुक आई हैं। अक्सर वह उन्हें तोड़ने लगती है। उस दिन वह जैसे ही उन्हें तोड़ने को उठी, पैर रपट गया और वह धम्म से नीचे आ गिरी। चीख निकल गई। प्रोफेसर की पत्नी नीचे थी, वह हड़बड़ाकर दौड़ी। देखा—बेबी बुरी तरह रो रही है और उसका चेहरा खून से भरा हुआ है। उसका दिल धक् से रह गया, 'हाय! यह क्या हुआ। बेबी, बेबी!'

बेबी धीरे-धीरे संज्ञा खोने लगी और उसे सम्भालती-सम्भालती मां खुद पागल हो चली, पर ठीक इसी समय मुंडेर के पीछे एक मुस्कराता हुआ चिर-परिचित चेहरा ऊपर उठा। हाथ में शीशी और डिब्बा है। उसे मुंडेर पर टिकाकर, वह ऊपर चढ़ी और फिर फुर्ती से इधर कूद आई। दूसरे क्षण बेबी उसकी गोद में थी। रूई से माथे का रक्त पोंछती-पोंछती वह बोली, 'जल्दी से दूध तो ले आओ। न हो तो निरी ब्राण्डी ही दे दूंगी।'

प्रोफेसर की पत्नी ने कृतज्ञ होकर कहा, 'दूध है, अभी लाती हूं।'

'और चम्मच भी।'

'जी।'

पत्नी गई और वह खून पोंछती रही। माथे पर दाहिनी ओर गहरा घाव बन गया है। उसे 'डीटोल' से साफ किया और धीरे-धीरे उसमें पाउडर भर दिया। फिर पट्टी बांधने लगी। बेबी पूरी तरह होश में नहीं है। जब दूध में ब्राण्डी मिलाकर चम्मच से उसे पिलाई, तो उसने आंखें खोलीं। सुन्दर गुलाबी चेहरा सफेद चिट्टा पड़ गया। वह मुस्कराई और बोली, 'बस बेबी! घबरा गई। अरे शेर तो न जाने कितनी बार कूदते हैं।'

बेबी आंखें खोले देखती रही। न हंसी, न रोई और न बोली। प्रोफेसर

की पत्नी की आंखें फिर-फिर कृतज्ञता से भर आईं। बोली, 'आपने···।'

'अरे छोड़िए भी ! बेबी को डाक्टर के पास ले जाना होगा। प्रोफेसर साहब आएं तो कह दीजिए, और देखिए, बेबी को लिटाए रखना चाहिए। ज़ख्म गहरा है।'

तभी ज़ीने में खटखट हुई। प्रोफेसर कालेज से लौट आए। पड़ौसिन ने सामान संभाला और अपने घर लौट चली। जाते-जाते फिर कहा, 'ब्राण्डी छोड़े जाती हूं। ज़रूरत होगी तो फिर दीजिएगा।'

प्रोफेसर ने यह सब सुना और बेबी को खून से तर देखा तो घबरा उठे। बोले, 'यह क्या हुआ ?'

'बेबी मुंडेर से गिर गई।'

'कहां चोट लगी ? ज़्यादा लगी क्या ?'

'सिर में खूब गहरा ज़ख्म है। पड़ौसिन ने 'फर्स्टएड' दी है। कहती है, अभी डाक्टर के पास ले जाना होगा।'

प्रोफेसर तभी बेबी को लेकर डाक्टर के पास गए। मरहम-पट्टी हुई। डाक्टर ने कहा, 'प्रोफेसर ! आपकी पत्नी बड़ी चतुर है।'

'जी !'

'पट्टी बड़ी अच्छी तरह की है। ट्रेंड है।'

प्रोफेसर के जी में आया कि कहे—डाक्टर, जिसने पट्टी बांधी है वह मेरी पत्नी नहीं है। पर न जाने क्या हुआ, वे बोल न सके। चुपचाप बेबी को लेकर लौट आए।

तभी ऊपर से आवाज़ आई, 'सुनिए तो।'

देखा वही है। पूछ रही है, 'क्या कहा डाक्टर ने ?'

प्रोफेसर की पत्नी ने जवाब दिया, 'आपकी तारीफ कर रहा था। कहता था ज़ख्म गहरा है। देर लगेगी पर डर नहीं है।'

वह मुस्कराई, 'सब ठीक हो जाएगा।'

और रात होने से पहले एक बार फिर पूछने आई। इस बार उसके पति भी हैं। और फिर वे दोनों रोज़ सवेरे घूमकर लौटते तो फूलों के कई गुच्छे ले आते। पूछते, 'बेबी कैसी है ?'

'ठीक है।'

'ये फूल उसे दे दीजिए।'

दिन बीतते, ज़ख्म भरता ग्रौर साथ ही साथ पड़ौसिन का प्रेम भी बढ़ता। कभी-कभी छत से ग्राकर वह वेवी को देख भी जाती है। ग्रक्सर कोई न कोई खिलौना ले ग्राती है। फूले हुए उड़नेवाले गुब्बारे, सजी हुई गुड़िया, दो घोड़ों की गाड़ी या सुन्दर सलौनी गाय!

प्रोफेसर देखते ग्रौर एक ग्रनिर्वचनीय पीड़ा से भर उठते। कहते, 'मना क्यों नहीं करती?' पत्नी कहती, 'कैसे करूं? सोचती हूं, इस बार ज़रूर मना करूंगी, पर वह ग्राती है ग्रौर ऐसे प्रेम से बोलती है, जैसे बेबी उसीकी है। बस, मैं बोल भी नहीं सकती।'

प्रोफेसर ग्रौर भी चिनचिनाते, 'वाहियात! यह सब बन्द होना चाहिए।'

'तो क्या करूं?'

'मना कर दो!'

'पर जानते हो, इन्हीं की वदौलत वेवी बची है।'

ग्रौर तब पत्नी की ग्रांखें भर ग्राती हैं। प्रोफेसर उसे देखकर मुंह फेर लेते हैं। शायद उनका दिल भी उमड़ता है—प्रेम से या घृणा से, कौन जाने? पर उधर का क्रम उसी तरह चलता रहता है। यद्यपि जैसे-जैसे ज़ख्म भर रहा है वैसे-वैसे उनका ग्राना भी कम हो रहा है, 'पर प्रेम की गहराई बढ़ रही है।

ग्राखिर वेवी का घाव भर गया पर ग्रर्द्ध चन्द्रकार-सा एक निशान वहां बना रह गया है। चन्द्रमा के कलंक की तरह यह रेखा प्रोफेसर की पत्नी को ग्रच्छी नहीं लगती लेकिन पड़ौसिन मुस्कराकर कहती है, 'हलो! वेबी के माथे पर चन्द्रमा! शंकर बाबा का चन्द्रमा! कैसा सुन्दर! कैसा प्यारा!'

वेवी हंस पड़ती है।

एक संध्या को उसने छत पर से ग्रावाज़ दी, 'ज़रा सुनोगी बहिन?'

प्रोफेसर की पत्नी शीघ्रता से ग्राई, 'क्या है जी।'

'लो यह क्रीम है। धीरे-धीरे दो उंगलियों से घाव पर मलिए। देखिए, ऐसे धीरे-धीरे मालिश कीजिए। निशान मिटा नहीं, तो इतना फीका पड़ जाएगा कि दूर से कोई जान न सकेगा—चन्द्रमा में कलंक है।'

प्रोफेसर की पत्नी ने कृतकृत्य होकर कहा, 'ग्राप बहुत ग्रच्छी हैं।'

'यानी बहुत खराब!'

प्रोफेसर की पत्नी धक् से रह गई, 'जी ! नहीं, नहीं जी।'

पड़ौसिन खिलखिलाकर हंसी, 'आप तो डर गईं। पर कहा करते हैं कि किसीको यह कहना कि तुम बहुत अच्छे हो ऐसा ही है जैसे यह कहना कि तुम बहुत बुरे हो। क्योंकि जो आदमी अच्छा ही अच्छा है वह अभी तो कहीं दिखाई देता नहीं। लेकिन जाने भी दो यह तो विद्वानों की बातें हैं। वे जानें और जानें तुम्हारे प्रोफेसर। हमें तो यों ही हंस-खेलकर जीवन काट देना है। और हां, कल आप हमारे घर आइएगा !

'कल क्या है !'

'उनका जन्मदिन ?'

'बधाई ! बहुत-बहुत बधाई ! बहिन ! तुम्हारा सुहाग अचल रहे।'

'धन्यवाद बहिन ! पर असली बधाई तो आपके आने की है।'

'जरूर आऊंगी जी।'

'और प्रोफेसर भी।'

'कह दूंगी।'

'कहना नहीं, लाना होगा। घबराइए नहीं, उनके द्वारा न्योता पहुंच जाएगा।' और वह फिर खिलखिला पड़ी। प्रोफेसर की पत्नी लजा गई। पड़ौसिन ने फिर कहा, 'बेबी को न छोड़ आइएगा।'

'जी नहीं, सभी आएंगे।'

'धन्यवाद !'—उसने कहा और लौट गई।

प्रोफेसर ने जब सुना तब एक बार तो मन में उठा कि मना कर दें। फिर सोचा—यह तो बुरी बात है। इसके अलावा उन्हें पास से देखने का जो अवसर मिलेगा, उसे खोना ठीक नहीं होगा। इसलिए वे अगले दिन ठीक समय पर पड़ौसी के घर पहुंचे। द्वार पर उन दोनों ने सदा की तरह मुकुलित-मन सबका स्वागत किया। जिस कमरे में वे बैठे वह बहुत बड़ा नहीं है। फरनीचर भी सादा और कम, पर जो है सुन्दर है और सुनियोजित है—एक ओर फर्श, जिसपर बिछी है दूध-सी नई चादर। तकिये भी उतने ही उजले और कोमल। कारनिस पर नाना प्रकार के पशु-पक्षी। छोटी गोल तिपाइयों पर शान्तिनिकेतन के बने सुन्दर और रंगीन फूल। लाल रंग खूबसूरत फूलदानों में रक्खे हुए ताज़े फूलों के गुलदस्तों से महकती भीनी-भीनी गन्ध। आदमी भी ज़्यादा नहीं।

कुल मिलाकर पांच पुरुष, चार स्त्रियां और चार बच्चे। मानो एक पारिवारिक परिचय-गोष्ठी हो और सब छुट्टी के 'मूड' में। आनन्द-विनोद और मधुर हास्य का वातावरण जैसे उमड़ उठा हो। जैसे उनके लिए दुनिया में न कहीं पीड़ा है, न विषाद। चारों ओर है बस प्रमोद ही प्रमोद। घर में हंसी, आसमान में हंसी, हवा में हंसी, सर्वत्र हंसी ही हंसी···।

देखा, एक कोने में फूलों का अस्त-व्यस्त ढेर लगा है। एक मित्र बोल उठे, 'जिधर देखो फूल, मानो आप लोग मनुष्य नहीं फूल हैं।'

पतिदेव बड़े ज़ोर से हंसे, 'अजी पूछिए मत ! इन्होंने तो आज मुझे फूल ही समझ लिया था।'

दूसरे मित्र हंसे, 'कुशल मनाइए, इन्होंने आपको मसल नहीं दिया।'

एक नवयुवती बोली, 'अजी, फूल नहीं फूलों का देवता समझा होगा।'

पत्नी ने मुस्कराकर कहा, 'अजी, क्या उपमा दी आपने ! इनसे तो पत्थर के देवता कहीं अच्छे।'

एक कहकहा लगा। पति ने हंसते-हंसते कहा, 'क्यों नहीं ! बेचारों पर कितना ही अत्याचार कर लो वे बोलेंगे थोड़े ही। पर भाई, मुझसे तो ये सब सहा नहीं जाता। पहले ठंडे पानी में नहाइए। फिर पूजा करिए। फिर पूजा करवाइए। यह खाइए देवी का प्रसाद, यह देवता का, यह आपकी दासी का, यह टीका लगवाइए, लीजिए मेरी मांग में सिन्दूर भर दीजिए। भला कोई अन्त है इस पूजा का ! बाप रे ! पत्थर ही की हिम्मत है !'

और तब ऐसा कहकहा लगा कि हंसते-हंसते सबके पेट में बल, आंखों में आंसू···पर क्या मजाल वह झेंपी हो। उसी तरह हंसती रही। फिर हंसी-हंसी में काम की बातें चलीं। बधाइयां दी गईं और सूचना मिली कि चाय तैयार है। सब उठे और मेज़ पर पहुंचे। प्रोफेसर ने अब एक बार फिर उन्हें ध्यान से देखा, 'वही उल्लास ! वहीं उमंगों की वेगवती धारा।

'क्या है यह'—उन्होंने सोचा और म्लान, मन चुपचाप चीनी घोलने लगे। सामने प्लेटों में रसगुल्ले हैं, गुलाब जामुनें हैं, पेड़े हैं, पेठे की डलियां हैं और हैं गरम-गरम समोसे, दालभीजी, टिकिया। कहते हैं, हंसते-हंसते और चार जनों में ज़्यादा खाया जाता है। प्रोफेसर भी हंसते हैं, और खाते हैं पर रह-रहकर उनके हृदय में जैसे कोई सुई चुभ उठती है। वे 'सी' करना चाहते थे, पर कर

नहीं सकते। इसलिए पीड़ा और भी असह्य हो उठी है। तभी अचानक उन्होंने देखा—बेबी खेलती-कूदती चारों ओर दौड़ रही है। कभी इस खिलौने को छूती है कभी उसको। ध्यान आया कि कहीं कुछ तोड़ न दे इसलिए पुकार लें। पर जैसे ही उन्होंने पुकारना चाहा, बेबी भागी। उसका पैर तिपाई में लगा। तिपाई उलट गई और उसपर के खिलौने, कीमती फूलदान चूर-चूर होकर फर्श पर बिखर गए। जैसे भूडोल आया। प्रोफेसर क्रुद्ध चिल्ला उठे, 'कम्बख्त! तूने यह क्या किया।'

जैसे क्षण-भर के लिए प्रशान्त सागर उबल उठा। सबकी दृष्टि उस ओर उठी। गृहिणी ने एक बार क्रुद्ध प्रोफेसर को देखा फिर सहमी-सकपकाई बेबी को, और फिर खिलखिलाकर हंस पड़ी। देखते-देखते बेबी को गोदी में भर लिया और पागलों की तरह चूमने लगी, 'बेबी! मेरी बेबी! जानती हो, तुमने आज एक बहुत बड़ा काम किया है, बहुत बड़ा!'

और फिर प्रोफेसर की ओर मुड़कर उसने कहा, 'आप बड़े निर्दयी हैं। ऐसे प्यारे बच्चे को ताड़ते हैं? खिलौनों का मूल्य खेलने में है और जब उनसे खेला जाएगा, तो उनका टूटना ज़रूरी है।'

फिर क्षण-भर के लिए रुकी, जैसे सांस लेती हो। धीरे से बोली, 'न जाने कब से रखे थे। न कोई छूता था, न खेलता था। देखते-देखते आंखें थक गई थीं। आज बेबी ने उसी थकान को दूर किया है।'

और कहकर उन्होंने फिर बेबी को ज़ोर-ज़ोर से चूमा और फिर उतार-उताकर सारे खिलौने उसके सामने डालने लगी, 'खेलो और तोड़ो, मेरी बच्ची! खूब तोड़ो। आखिर इनका अन्त आना ही चाहिए आना ही चाहिए।'

जैसे कमरे में निस्तब्धता छा गई। अपलक-अवाक् सब उस नारी को देखते रह गए। वह अब भी उसी तरह हंस रही है, हंसे जा रही है पर उस हंसी के पीछे पीड़ा का जो अदृश्य सागर लहराता रहा है वह आज प्रकट हो गया है। प्रोफेसर ने उसे स्पष्ट देखा। यह उनकी विजय है। उनके हर्ष का अवसर है, पर न जाने क्यों वे एक अनिर्वचनीय सहानुभूति से भर उठे हैं और मन ही मन कह रहे हैं, इतने बड़े अभाव को हृदय में छिपाकर भी जो इतना खुलकर हंस सकता है उस व्यक्ति को मैं बार-बार प्रणाम करता हूं।

हिमालय की बेटी

यह कहानी मेरे बड़े भाई ने मुझे सुनाई थी। शायद इसकी नायिका अभी भी जीवित है। मेरी कल्पना में कुछ रंगीनी, हो सकता है, आ गई हो, लेकिन मूल घटना वैसी की वैसी ही है। दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में इसको तीसरा स्थान मिला था। लेकिन मैंने इसे वापिस ले लिया था। दो कहानियां नहीं जा सकती थीं। बहुत-से लोगों का विचार है कि यह कहानी मेरी उस कहानी से भी अच्छी है जिसे प्रथम पुरस्कार मिला है। इस कहानी का रेडियो-रूपान्तर भी प्रसारित हो चुका है।

◇

भूमिका

आपरेशन के बाद भी लगभग एक माह अस्पताल में रहना पड़ा। अचानक एक सन्ध्या को सोकर आंख खुली तो क्या देखता हूं—नई नर्स बैठी हुई मेरी कहानी पढ़ रही है। वह इतनी तन्मय थी कि उसे मेरे जागने का पता नहीं लगा और मुझे भी उसका सौम्य मुख इतना प्रिय लगा कि मैं जान-बूझकर सोने का नाट्य करता हुआ लेटा रहा। सहसा उसकी दर्द-भरी आंखें, जिनसे सदा एक प्रकार की आत्मीयता टपका करती थी, गदराईं और फिर उनसे आंसू झरने लगे। तभी न जाने कैसी आहट हुई कि उसने चौंककर मेरी ओर देखा। जैसे चोर चोरी करता हुआ पकड़ा गया हो। सकपकाकर बोली—'आप जाग गए?'

'हां…तुम रो रही हो?'

'नहीं तो, नहीं, ऐसे ही कहानी पढ़कर…।'

'कैसी लगी कहानी?'

'बड़ा दर्द है इसमें। क्या सच्ची है?'

'काफी सच्ची है। बस भाषा मेरी है।'

'तभी इतना दर्द है।'

कहकर वह सहसा गम्भीर हो आई। मुझे लगा, दर्द इसके भीतर भी है। जब से वह आई थी तभी से उसके आत्मविश्वास और आत्मीयता ने मुझे प्रभावित किया था। अब मैंने उसके समीप आने का और भी प्रयत्न किया। और एक दिन उसकी कहानी जानने में सफल हो गया। उसी कहानी को मैं अपने शब्दों में नीचे दे रहा हूं। काश कि इसे उसीके शब्दों में दे पाता पर अपने अज्ञान का क्या करूं?

कहानी

रेवती का जन्म उस प्रदेश में हुआ था जहां पहाड़ों की चोटियां हमेशा वर्फ से ढकी रहती हैं और जहां अब भी लोगों का विश्वास है, कि पार्वती रैंमासी के फूलों को, अपने पावन दुकूल में भरकर, शंकर के चरणों में अर्पित किया करती हैं। इसी प्रदेश के अनुरूप था उसका रूप। हिम की कठोरता-सा बदन, सूर्य की किरणों से आलिंगन करते सजल बादलों की अरुणाभा-सा मुख, वनश्री की सुषमा-सा मानस, वह हंसती मानो निर्झर खिलखिलाते हैं। श्रम की प्रतिमा वह कभी फेंटा कसे भैंसों के पीछे घूमती, कभी खेत में जल्दी-जल्दी हंसिया चलाती तो कभी पुआल का भारी बोझ उठाकर, जीवन के उतार-चढ़ाव जैसे पथरीले मार्गों पर दौड़ती। इसी तरह दौड़ते-दौड़ते न जाने किस अनजाने क्षण में झरनों का छलछलाता हुआ संगीत, प्रेम के मदिर संगीत में रूपान्तरित हो गया। अब वह कभी श्रीधर के साथ बैठकर प्रेमालाप करती, तो कभी कुशलानन्द उसे प्रेम-संगीत सुनाता।

श्रीधर का गोरा-चिट्टा रंग और लम्बा मुख आंखों को बड़ा प्यारा लगता था लेकिन उसमें एक अवगुण था, वह था उसका एकान्त भोलापन। वह ऐसे धीरे-धीरे बातें करता था मानो पुरवैया सरसराती हो। उसकी बातें सुनकर रेवती अक्सर मुंह में कपड़ा ठूंसकर हंस पड़ती···

कुशलानन्द सुदृढ़, गेहुंआ उसका रंग और नक्श तीखे। उसकी आंखों में विश्वास बोलता। यद्यपि रेवती कभी-कभी उसके अभिमान से खीज उठती पर उसकी बातें उसे अच्छी लगतीं। वह उससे मिलने पहाड़ी पार करके खेतों के नीचेवाली पगडंडी पर जाया करती। उसके पास ही एक झरना बहता था, उसकी फुहारों में बैठकर वह कभी-कभी घण्टों कुशलानन्द की बातें सुनती

रहती। वह कहता—'मैं सेना में बड़ा अफसर बनूंगा।'

'मुझे शहर ले चलेगा ?'

'हां, मैं तुझे दिल्ली ले चलूंगा।'

'दिल्ली !'—वह खिलखिलाती—'सुना, वहां मोटरें चलती हैं। वहां की सड़कें ऊंची-नीची नहीं हैं।'

'ऊंची-नीची ! पगली, वे बिलकुल सीधी हैं।'

'हाय राम ! कैसे चलते हैं वहां के लोग ?'

श्रीधर खेत पर जाते हुए मार्ग में मिल जाता और दूर तक बातें करता हुआ साथ-साथ चलता। वह अक्सर कहा करता, 'मैं यात्रा के रास्ते पर एक बड़ी दुकान खोलूंगा और खूब पैसा कमाऊंगा।'

'पैसा !'—रेवती अनजान बनकर हंसती—'पैसे से क्या होगा ?'

'पैसे से क्या होगा ? पैसे से तेरे लिए सोने के गहने आवेंगे, रेशमी कपड़े आवेंगे, नया घर बनेगा। पैसे में बड़ा ज़ोर होता है पगली।'

श्रीधर जब कभी पैसे की महिमा का बखान करता, तो रेवती सहसा अभिभूत हो जाती। इसीलिए उसका रुझान यद्यपि कुशलानन्द की ओर था पर वह श्रीधर को भी एकाएक मन से हटा न सकी। और इसी उलझन में उसने एक दिन पाया कि वह मां बनने जा रही है···। वह सहसा डर गई लेकिन वह डर भूचाल जैसा था। दूसरे ही क्षण जैसे वह मिट गया, पर कम्पन अभी शेष था। वह दौड़ी-दौड़ी कुशलानन्द के पास पहुंची। तब उसका रक्तिम मुख लाज से और भी लाल हो गया था और वह बार-बार हंसते-हंसते रुक जाती थी··।

'क्या हुआ तुझे ?' कुशलानन्द ने विस्मय से पूछा।

'ऊहूं, नहीं बताती।'

'तो मैं जाता हूं।'

'नहीं, नहीं, बताती हूं। ठहर।···'

वह ठहर गया और रेवती हाथ से फेंटे को ऐंठती हुई कई क्षण बाद बोली, 'ज़रा पास आओ।'

वह पास आ गया।

'और पास।'

वह ग्रौर पास ग्रा गया । तब रेवती बोलने चली पर हुग्रा यह कि वह एक-टक देखती रह गई । वह ग्रौर भी विमूढ़-सा बोला—'क्या बात है ? बोलती क्यों नहीं ?'

रेवती ने तब लजाकर कहा, 'बात क्या ? इतना भी नहीं समझते ।'

सहसा दृष्टि मिल गई । कुशलानन्द ग्रवाक् रह गया । एक ऐसा तरल पदार्थ रेवती के नयनों से छलक रहा था जिसने उसे ऊपर से नीचे तक एक ग्रनिर्वचनीय रोमांस से गुदगुदा दिया । ग्रब समझने को कुछ शेष नहीं रहा। कई क्षण भावावेश में वह रेवती से बातें करता रहा ग्रौर चलते समय उसने उसे विश्वास दिलाया कि वह शीघ्र ही उससे विवाह कर लेगा ।

रेवती उस गौरव के भार से पुलक उठी ग्रौर तीसरे दिन जब उसे यह समाचार मिला कि कुशलानन्द नीचे चला गया है तो उसे शंका करने का कोई भी कारण नहीं रह गया । मन ही मन उसने सोचा—ग्रवश्य ही वह मेरे लिए गहने-कपड़े लेने गया है ।

ग्रौर वह उत्सुकता से उसकी राह देखने लगी लेकिन एक-एक करके कई दिन बीत गए, कुशलानन्द नहीं लौटा । बस एक दिन इतना समाचार ग्राया कि वह सेना में भरती होकर लाम पर चला गया है। रेवती उस एक रात में कलंकिनी हो गई । कुशलानन्द के कपट ग्राचरण ग्रौर पाखण्डी जैसे ग्रविश्वस-नीय व्यवहार ने उसकी सुषमा पर जैसे स्याही पोत दी। धीरे-धीरे वह ग्रपवाद बाढ़ के पानी की तरह ऐसा बढ़ा कि ग्रालोचना का विषय हो गया । ग्रौर समाज के शब्द-बाण उसके कलेजे को बींधने लगे पर उसके ग्रांसू तो शाश्वत हिम की तरह जम गए थे। वह स्वयं पत्थर बन गई थी । न हंसती न रोती। श्रीधर ने सब कुछ सुना । चोर की तरह उसी दिन वह उससे मिलने ग्राया पर उस तिरस्कृता ने उसकी ग्रोर देखा तक नहीं । वह उस दिन लौट गया पर फिर ग्राने के लिए । ग्रौर जब वह दूसरी बार ग्राया तो उसने स्पष्ट कहा, 'मैं तुमसे ग्राज ही शादी कर सकता हूं ।'

रेवती सहसा इस प्रस्ताव का कोई जवाब नहीं दे सकी । वह तब खेत से लौट रही थी ग्रौर उसके सिर पर पुग्राल का एक बड़ा गट्ठर था । वह श्रीधर का मुख नहीं देख सकती थी। यद्यपि देखने की चाह उसे सिर का बोझ फेंक देने को कह रही थी । बहुत दूर तक वह मौन उसकी बात सुनती चली गई।

फिर एकबारगी बोली, 'नहीं, यह नहीं होगा।'

'क्यों ?'

'नहीं होगा। नहीं, यह नहीं होगा।'—उसने भावावेश में कहा और आगे की चढ़ाई पर ऐसे चढ़ने लगी मानो उससे दूर भाग जाना चाहती हो। इस प्रयत्न में वह गिरते-गिरते बची क्योंकि श्रीधर ने आगे बढ़कर उसे एक प्रिय वस्तु की तरह अपने हाथों में थाम लिया और सहज भाव से कहा, 'अब तुम्हें अपना ध्यान रखना चाहिए।'

इसी क्षण में रेवती की दृष्टि सहसा श्रीधर के मुख पर जा पड़ी। स्तब्ध रह गई—कितनी शान्ति, कितनी गरिमा थी उस गोरे मुख पर।

'क्या कहती हो ?' श्रीधर ने उसी सहज भाव से पूछा।

रेवती एक क्षण के लिए ठिठकी फिर एकबारगी उसने कहा—'मुझे यहां से ले चलो।'

'कहां ?'

'कहीं भी।'

'अच्छा।'

श्रीधर और रेवती का विवाह हो गया और पति-पत्नी दोनों नीचे आकर हरिद्वार में रहने लगे। यहीं रेवती के बेटे किशुन का जन्म हुआ। अपनी शिशु-सुलभ क्रीड़ाओं से उस शिशु ने उस दम्पती के जीवन को रसमय बनाने का पूरा प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न में पांच वर्ष बीत गए।

लेकिन ये पांच वर्ष रेवती और श्रीधर को एक-दूसरे का न बना सके। रेवती अक्सर एकान्त में झुमैलो के वेदनामय गीत गाया करती थी और गोरे मुखवाला श्रीधर शराब पिया करता था, जुआ खेला करता था। वैसे वे कभी आपस में नहीं लड़ते थे। बल्कि एक-दूसरे को प्यार करने का पूरा प्रयत्न करते थे। वे किशुन को भी प्यार करते थे। जैसे वे दो किनारे हों और किशुन धारा हो, धारा जो किनारों की होकर उन्हें कभी नहीं मिलने देती। किशुन को देखकर दोनों को कुशलानन्द की याद आ जाती। वही रूप-रंग, वही हाव-भाव, रेवती का दिल दर्द से टीस उठता और श्रीधर को लगता जैसे वह पराया है।

रेवती इस अवस्था के लिए श्रीधर को कभी दोष नहीं देती। वह बार-बार अपने को धिक्कारती और कहती—यह ठीक हुआ। मुझ जैसी पापिष्ठा के लिए इसीकी ज़रूरत थी।

एक दिन एकान्त पाकर वह झुमैलो की कड़ियां गुनगुना रही थी—'ऋतुएं चक्कर लगाकर लौट आईं, वनों में ग्वीराल और बुरास फूल गए। झालरदार पेड़ों पर झुकी हुई डालियों में 'घुगती' घू-घू कर रही है और नदियों की गहरी घाटियों में 'मेलौडी' वियोगिनी की भांति अपनी व्यथा सुना रही है,' कि सहसा उसकी सिसकी फूट निकली। उसने दोनों हाथों में अपना मुंह छिपा लिया और तकिये पर गिरकर देर तक रोती रही। तब तक रोती रही जब तक उसने द्वार पर ज़ोर की आहट नहीं सुनी। कोई उसे पुकार रहा था। उसे लगा जैसे वह उस स्वर को पहचानती है। वह हड़बड़ाकर उठी और तुरन्त बाहर भागती चली गई। देखा—रामलाल है। पति की दूकान के बराबर ही उसकी दूकान है। उसने तीव्रता से हांफते हुए एक सांस में कहा, 'श्रीधर ट्रक के नीचे आ गया।'

'क्या ?'

'किशुन सड़क पर खेल रहा था कि एक ट्रक दौड़ती हुई आई। वह किशुन को कुचल देती पर श्रीधर ने भांप लिया। वह दौड़कर उसके पास पहुंचा पर इससे पहले वह निकल पाता ट्रक उसकी टांगों को कुचलती हुई भूकम्प की तरह निकल गई…।'

जितनी देर रामलाल बोलता रहा, उतनी देर भी वह वहां नहीं रुकी रही। पागल-सी दौड़ती हुई वहां पहुंची जहां लोगों की भीड़ में किशुन चीख-चीखकर रो रहा था और श्रीधर पड़ा था संज्ञाहीन, रक्त से लथपथ। उसे देखकर भीड़ काई की तरह फटती चली गई। भय और आतंक से हतबुद्धि एक क्षण उसने सब कुछ देखा, दूसरे क्षण एक हाथ से किशुन को छाती से चिपकाकर वह श्रीधर के पास जा बैठी और पागल-सी अवाक् उसके शरीर को टटोलने लगी…।

तीसरे दिन अस्पताल में श्रीधर की एक टांग काट देनी पड़ी। अपनी सारी कोशिशों के बावजूद रेवती उसे अपंग होने से न बचा सकी। एक बार तो उसने

यहां तक कह दिया, 'क्यों डाक्टरजी ! क्या मेरी टांग काटकर नहीं लगाई जा सकती ?'

डाक्टर उसके पागलपन पर केवल हंस दिए। रेवती को विधि का यह विधान स्वीकार करना पड़ा, पर उसका दिल टूट गया। यूं वह रोज़ अस्पताल जाती। श्रीधर को देखकर मुस्कराती, उसकी छाती पर हाथ ऐसे रखती मानो सिर रखती हो। कई बार उसने सोते हुए श्रीधर को लक्ष्य करके मौन निवेदन किया कि मुझ अभागिन के लिए तुमने कितना कष्ट पाया पर मैं तुम्हें कुछ भी न दे सकी। लज्जा के इस भार को मैं कैसे सहूंगी···।

श्रीधर बहुत कम बोलता था। उसे बस देखना अच्छा लगता था। रेवती उसकी मानसिक व्यथा को समझती थी। वह जैसे प्रेम में डूबकर कहती—'डरते क्यों हो ? मैं तो हूं, फिर कुछ साल बाद किशुन बड़ा हो जाएगा।'

'हां, हो जाएगा'—श्रीधर कहता और एक दीर्घ अर्थ-भरा निःश्वास उसके अन्तर से निकलकर शून्य में मिल जाता। रेवती उस निःश्वास का अर्थ भी समझती थी पर उसका प्रतिवाद करने का उसने कभी साहस नहीं किया। हां, इधर उसने वेदनामय गीत गाने छोड़ दिए। अब उसके मस्तिष्क में हिमाचल की सुषमा भी पीड़ा नहीं उपजाती। उनके स्थान पर वह तीव्रगति से ट्रक को दौड़ते हुए देखती है। देखती है कि किशुन उस लौह-यान की चपेट में आ रहा है और श्रीधर पागल-सा दौड़ रहा है···

वह चीखकर नेत्र मूंद लेती पर अंतर में उसे रक्त ही रक्त बिखरा दिखाई देता। व्याकुल वदन वह फिर नेत्र उघाड़ती और अस्फुट स्वर में बोलती, 'तुम कितने बड़े हो, कितने बड़े···।'

एक दिन वह अस्पताल से लौटी थी कि द्वार पर किसीने आहट की। खोलकर देखा—एक सैनिक खड़ा है। अंधकार में सहसा पहचान न सकी। बोली, 'किसे पूछते हो ?'

वह सैनिक आगे बढ़ा, जैसे बिजली कौंधी। अंधकार का अतल चमक उठा। वह कुशलानन्द था जो मौन अपलक उसे देख रहा था, देखता चला जा रहा था और वह कांप रही थी, कांपती चली जा रही थी। बहुत समय तक स्तब्ध रहकर वह बोला, 'आ सकता हूं ?'

वह जागी, 'नहीं, नहीं, नहीं आ सकते। जाओ, जाओ···।'

उसकी वाणी कठोर थी जैसे बर्फीली वायु वदन को छेद रही हो। कहकर वह तेज़ी से अन्दर भागती चली गई पर किवाड़ बन्द करना भूल गई। उसी खुले द्वार से कुशलानन्द अन्दर चला आया। सबसे पहले उसकी दृष्टि सोते हुए किशुन पर पड़ी। वह ठिठक गया। रेवती भी तब उसीको देख रही थी। कम्पित स्वर में कुशलानन्द ने पूछा, 'तुम्हारा बच्चा है?'

वह सिंहनी-सी मुड़ी। बोली, 'हां मेरा बच्चा है। तुम यहां क्यों आए? चले जाओ। जाओ···'

कुशलानन्द गया नहीं, बैठ गया। कहने लगा, 'जाना तो है ही। श्रीधर को देखने आया था।'

'दूर से ही देखना हुआ। बेचारा···।'

रेवती तड़पकर बोली, 'तुम्हें वहां जाने का···।'

पर वह वाक्य पूरा कर पाती इससे पूर्व क्या देखती है कि कुशलानन्द उसके चरणों को जकड़कर पकड़े हुए है और अपना सिर उनपर दे-देकर मार रहा है। इस आकस्मिक घटनाचक्र के कारण रेवती से संभलना कठिन हो गया। उसे लगा कि वह संज्ञा खोती जा रही है। जब उसकी संज्ञा लौटी तो आंखें फाड़-फाड़कर देखा, वहां कोई नहीं था। देर तक इस सबको अविश्वसनीय और अकल्पनीय मानती हुई वह द्वार की दिशा में देखती रही। फिर वहीं बच्चे के पास लेट गई और फफक-फफककर रो उठी। द्वार उसी तरह खुला पड़ा रहा।

उसने किशुन को बार-बार अपनी छाती में समेटा, बार-बार वह फुसफुसाई, 'कपटी, छलिया, चोर···अब तो पहले से भी···पहले से भी···।'

सहसा उसने अपनी जीभ काट ली।

कुशलानन्द अगले दिन फिर आया। रेवती जानती थी कि वह आएगा पर वह उससे बोली नहीं। वह सारा समय क्षमा मांगता रहा, 'मैं बहुत कमज़ोर निकला—बहुत कमज़ोर। मैं घरवालों का विरोध न कर सका।' पर रेवती ने कोई जवाब नहीं दिया। उसने किशुन को प्यार करना चाहा पर वह पास नहीं आया। जब वह चला गया तो किशुन ने मां से पूछा, 'अम्मां यह कौन था?'

'कौन!'—वह चौंकी।

'यह जो आया था।'

'यह···यह अपने गांव का एक आदमी था।'

कहकर वह हंस पड़ी और बार-बार उसका मुंह चूमने लगी। फिर दो दिन कुशलानन्द नहीं आया, पर तीसरे दिन काफी रात गए रेवती ने द्वार पर आहट सुनी। वह नहीं उठी। आहट फिर हुई, वह नहीं उठी। एक लम्बे क्षण के बाद आहट फिर हुई। इस बार उसने किवाड़ खोल दिए। वह अन्दर आकर बहुत देर तक कुण्ठित मन मौन बैठा रहा। फिर बोला, 'मैं अब जा रहा हूं। मैंने बहुत बड़ा पाप किया है।'

रेवती अन्धकार की ओट में मूर्तिवत् बैठी रही। उसने फिर कहा, 'मेरे कारण तुम इतने कष्ट में हो।'

रेवती अब भी नहीं बोली। उसीने कुछ क्षण रुककर कहा, 'मैं अब और तो क्या कर सकता हूं पर···पर मेरे पास कुछ रुपये हैं और तुम्हें···'

रेवती अब तड़पी, 'मुझे रुपयों की जरूरत नहीं है।'

'पर···।'

'नहीं।'

वातावरण फिर मौन हो गया। इस बार रेवती बोली, 'और कुछ कहना है?'

'हां।'

'क्या···।'

उसने कहना चाहा पर बार-बार प्रयत्न करने पर भी वह हकलाने लगा। रेवती वैसे ही देखती रही, देखती रही। आखिर वह बोला, 'मुझे माफ कर दो। मैं अब भी···अब भी···।'

वह एक सांस में सब कुछ कह गया। रेवती का शरीर तीव्रगति से सिहर उठा। लेकिन अचरज, तब वह क्रुद्ध नहीं हुई, न रोई मानो जो कुछ उसने सुना उसे सुनने की उसे आशा थी। क्षण-भर बाद उसने बड़े विनम्र स्वर में कहा, 'तुम यहां से चले जाओ। क्यों बेकार वक्त खोते हो।'

शब्दों में इतनी आत्मीयता, इतनी स्निग्धता थी कि कुशलानन्द विस्मय और लज्जा से गड़ गया, बहुत समय तक विमूढ़-सा बैठा रहा। अन्त में थककर उठा और रुंधे कंठ से बोला, 'जाऊं?'

'हां, फिर मत आना।'

वह मुड़ा पर किशुन को देखता हुआ ठिठक गया मानो प्रार्थना करता हो, क्या एक बार बच्चे को···।

रेवती ने मना करना चाहा पर कर न सकी। कुशलानंद ने धीरे-धीरे पास आकर बच्चे को चूमा, फिर वह मुड़ा और चला गया, सैनिक की भांति दृढ़, शान्त और मौन। रेवती उसी दिशा में देखती बैठी रही। वह अन्धकार में खो गया तब भी देखती रही। बहुत समय बाद उठी, द्वार बन्द किया और बेटे के पास लेट गई। उसका सिर अपनी छाती पर रख लिया और उसके बदन को अपने बदन से ऐसे सटा लिया मानो अपने भीतर समेट लेना चाहती हो!

इसके बाद कुशलानन्द नहीं आया। हां, एक टांग खोकर श्रीधर अस्पताल से लौट आया। उसके स्वभाव में काफी परिवर्तन आ गया था। क्रोध और खीभ का आवरण ओढ़कर दुर्बलता उसके अन्तस्तल पर कनखजूरे की तरह चिपक गई थी। वह रेवती को अपने लिए पिसते देख रहा था फिर भी वह उसके और अपने बीच की अदृश्य खाई को नहीं पाट सका। जाने-अनजाने यही विवशता उसके दुर्बल मन को अब और भी पथभ्रष्ट करने लगी। वह धीरे-धीरे और भी अधिक जूआ खेलने लगा, और भी अधिक शराब पीने लगा। घर पर कभी-कभी मारपीट की नौबती आ जाती। किसी दिन कहीं से अधिक चढ़ा आता तो उस दिन तूफान मचा देता। रेवती रो-रो पड़ती, 'तुम्हें यह क्या हो गया है?'

एक दिन शराब की झोंक में श्रीधर मस्ती से बोला, 'दुनिया में औरों की बीवियां है जो अपने पतियों से बेवफाई करती हैं पर तुम हो कि बेवफा भी नहीं हो सकतीं।'

स्तब्ध-मौन रेवती तब उसे देखती रह गई और जब अगले दिन सवेरे ही उठकर उसने सदा की तरह मांफी मांगी तो उसे प्यार से डांटकर बोली, 'चुप करो।'

'काश कि मैं चुप हो जाता। हमेशा के लिए चुप।···'

'कैसे आदमी हो जी, जो ऐसे कहते हो। तुम क्या नहीं कर सकते?'

सदा की तरह सन्ध्या होते-होते यह रोमांस भी समाप्त हो गया और श्रीधर

फिर दुर्बलताओं के चक्रव्यूह में फंस गया। रेवती सोचती कि यह सब ठीक-ठीक इलाज न होने के कारण है। काश कि उसके पास पैसा होता। होता तो वह मन के अनुसार इलाज करवाती। पर्वत की बेटी श्रम से नहीं डरती पर आज के युग में पैसा श्रम से नहीं मिलता…लेकिन ज़ोर पैसे का है। तो वह क्या करे…क्या करे…कहां से लाए पैसा ?

कभी-कभी वह खीझ उठती, 'कितना करती हूं इनके लिए फिर भी यह हाल है इनसे तो किशुन अच्छा है। पास-पड़ौस में क्या नहीं देखता। मांगता भी है पर जब मैं एक बार मना कर देती हूं तो फिर नहीं बोलता और ये हैं कि जीना दूभर कर रखा है…।' लेकिन दूसरे ही क्षण वह कांप उठती, 'नहीं, नहीं, उस चोट ने इन्हें ऐसा कर दिया है, नहीं तो ये कितने बड़े हैं, कितने बड़े !'

और तब वह पश्चात्ताप की ग्लानि से रो-रो पड़ती।

एक दिन श्रीधर शराब पीकर नहर के किनारे-किनारे लौट रहा था, सामने से सरकारी ट्रक आ गई। उससे बचने की कोशिश में वह लड़खड़ा गया और फिर लुढ़कता हुआ नहर में जा गिरा।

तीसरे दिन एक पुल में अटकी हुई उसकी लाश मिली। तब रेवती ने जो विलाप किया उससे सुननेवालों के हृदय विदीर्ण हो गए। लेकिन उससे क्रिया-कर्म का झमेला तो रुक नहीं सकता था। किसी तरह उससे निबटने के बाद रेवती ने पाया कि अब वह निपट अकेली है। उसे वेदनामय गीतों की फिर याद आने लगी। उसके अर्थों के सहारे वह फिर दूर पहुंच जाती लेकिन अब वह सिसक-सिसककर नहीं रोती। उसे किशुन की चिन्ता है। वह बाहर से खेलता-खेलता आता और पूछ बैठता, 'अम्मां ! काका कहां चले गए ?'

'काका तेरे बहुत दूर चले गए हैं। बहुत-सा पैसा लावेंगे।'

'और खिलौने लावेंगे ?'

'हां।'

'किताब लावेंगे ?'

'हां।'

किशुन हंस पड़ता और मां की गोद में बन्दर की तरह कूद-कूदकर कहता, 'अब मैं पढ़ने जाऊंगा। अम्मां अब मैं पढ़ने जाऊंगा। है न ? मुन्ना, रामू, गोपाल

और हरि और दीनू सब जाते हैं।'

'हां' हां, एक दिन मैं तुझे पाठशाला ले चलूंगी।'

और फिर रेवती उसे लेकर उलझ जाती। जान-बुझकर शैशव की बातें कुरेदती और बहुत-सा समय इसी तरह हंसते-हंसाते बिता देती। पर जीवन केवल हंसने-रोने की आंख-मिचौनी का नाम नहीं है। रेवती सोचती है—वह अब क्या करे ? क्या पति की दूकान चलावे या कहीं और चली जावे। क्या वहीं लौट जावे जहां से एक दिन वह चुपचाप चली आई थी या···या···फिर कुशलानन्द···

कुशलानन्द का नाम याद आते ही वह एक बार मलेरिया की जूड़ी की तरह कांपी, फिर अस्फुट स्वर में कुछ अस्पष्ट-सा बोली। फिर मौन हो गई पर मौन तो सहस्र जिह्वाओं से बोलता है। कोई कान में सुना गया, 'तुम्हारा बेटा उसका बेटा है। तुम अब अकेली हो। तुम उसीकी हो···।' उसने मन ही मन में कहा, 'जो अब तक न हो सका वह क्या अब होगा ?'

और अगले दिन उसने क्या देखा, कुशलानन्द उसके सामने खड़ा है। वही रंग, वही रूप, वही केश। वह सिहर उठी। बोली—'आप···तुम कब आए ?'

'अभी।'

फिर दोनों बहुत देर शोकाकुल मौन बैठे रहे। जब वह बोला भी तो बस शोक प्रकट करके चला गया। फिर तीन दिन तक उसका आना नहीं हुआ। हां, अपरोक्ष रूप से उसका सन्देश आया। चौथे दिन वह स्वयं आया। रेवती ने कनखियों से उसे देखा और सिर झुकाकर बोली, 'बैठो।'

कुशलानन्द बैठ गया। कुछ समय मौन बैठा रहा फिर पश्चात्ताप-दग्ध स्वर में बोला, 'जो कुछ हुआ बुरा हुआ पर अब उस सब कुछ को भूल जाओ।'

रेवती सहसा दोनों हाथों से मुंह छिपाकर रो पड़ी। हतबुद्धि कुशलानन्द एक क्षण तो घबराया फिर उसके चरणों के पास आ बैठा, और उसके मुंह की ओर मुंह करके कहने लगा, 'न, न, रोओ मत। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जब भी···।'

एकाएक रेवती ने सिर उठाकर, रुंधे स्वर से कहा, 'तुम क्यों आ गए !

'क्योंकि···क्योंकि मैं अब भी तुमसे प्रेम करता हूं।'

फिर कई क्षण तक रेवती कांपती रही, उसका वक्षस्थल अनियमित वेग से उठता रहा, गिरता रहा।

'मैं सच कहता हूं। मैं बहुत सज़ा पा चुका।'

रेवती नहीं बोली।

'क्या तुम मुझे मेरे बेटे को बेटा कहने का अधिकार नहीं दोगी?'

रेवती अब भी मौन रही।

'क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं, बोलो?'

इस बार रेवती ने दृढ़ स्वर में कहा, 'करती हूं!'

वह हर्षविभोर हो उठा, 'मैं जानता था, मैं जानता था।'

लेकिन फिर वही अशुभ मौन। कुशलानन्द ने विह्वल होकर कहा, 'अब क्या सोच रही हो? उठो, चलो, अभी चलो।'

रेवती पहले जैसे दृढ़ स्वर में बोली, 'एक बात सुनो।'

'मैं अब कुछ नहीं सुनूंगा।'

'वह तो सुनना होगा। तुमने कुछ भी किया हो, मैं तुम्हें हमेशा चाहती रही, अब भी चाहती हूं। चाहती हूं, काश कि वे दिन लौट आवें पर एक बात सोचती हूं, तुम्हारे प्यार की निशानी तुम्हारा बेटा मेरे पास है लेकिन···'

'लेकिन क्या?'

'लेकिन जिसने दो-दो बार तुम्हारे बेटे के शरीर में अपने प्राण उंडेले, उसकी तो मेरे पास याद ही बाकी है······'

वाक्य पूरा करते-करते रेवती गीले बादल-सी बोझिल हो उठी, बोली, 'हाथ जोड़ती हूं। उसे अपवित्र मत करो। तुम चले जाओ। चले जाओ।'

विस्मय-विमूढ़ कुशलानन्द को लगा जैसे उसका सिर ब्रह्माण्ड की गति से घूम रहा है। निमिष-मात्र में प्यार करने का पुराना इतिहास रत्ती-रत्ती याद आया गया और याद आ गई अपनी लज्जा की कहानी, पर इस दृढ़ नारी के सामने वह सारा व्यतीत जैसे धुल-पुंछ गया हो। उस निमिष रेवती का मुख भी एकाएक बदल गया। देखा, विषाद, निराशा, अशान्ति वहां कुछ नहीं है, अभिमान भी नहीं है। है केवल अगाध विश्वास और उससे भी बढ़कर अपूर्व शान्ति···

कई क्षण आत्मविभोर वह उसे देखता ही रह गया फिर निश्शब्द बाहर चला गया। चला गया तो रेवती ने उस ओर देखा। फिर दांतों से ओठों को दबाकर आती हुई रुलाई को बलपूर्वक रोका, 'नहीं, अब वह अपने आंसू किसीको नहीं दिखाएगी। अब वह अपनी व्यथा को आप पिएगी और जिएगी। हां, वह जिएगी।'

चाची

इसे शायद मैं कहानी नहीं कहना चाहूंगा। यह एक व्यक्ति का चित्र है। वह व्यक्ति हमारी तरह हाड़-मांस का व्यक्ति था। कल्पना का नहीं। कुछ लोगों ने इस स्केच को मेरी पहली कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' से अधिक पसन्द किया है।

◇

उस दिन अचानक चाची के दो मास पूर्व स्वर्गवास होने का समाचार पाकर सन्न रह गया। इतने दिन तक कोई सूचना नहीं, कहीं कोई हलचल नहीं, मेरे आसपास कोई उसे जानता तक नहीं। इस विशाल गुंजायमामान नगर की तो चर्चा ही क्या उसके अपने कस्बे में जैसे वह अनेकों में एक बन गई। स्वतन्त्रता ने भूचाल की तरह देश के एक भाग का रूप ही पलट दिया। जैसे पुरानी नदियां मिट जाती हैं, नई उभर आती हैं, वैसे ही एक जनसमूह देखते-देखते लुप्त हो गया, दूसरा आ गया, दूसरा जो अपना है पर जिसकी भाषा अलग, वेशभूषा अलग, खान-पान अलग, नितान्त अपरिचित···उसी अपरिचित में चाची ऐसे दूर जा पड़ी जैसे बरसाती नदी के किनारे।

कुछ अच्छा नहीं लगा। चाची की मूर्ति आंखों में उतराने लगी। झुर्रियों से भरा पतला-लम्बा मुख, कृशकाय, पान खाने से भद्दे हुए दांत, लम्बे पर दबे-से नयन लेकिन चमक इतनी कि बल्ली को भी झिझकना पड़े। हंसती तो दोहरी हो जाती, हर वक्त खों-खों करती, सांस ऐसे चलता जैसे धौंकनी। पर जब इठलाकर चलती तो आसपास की हवा सांय-सांय कर उठती और अक्सर वह इठलाकर ही चलती थी। जब बोलने लगती तो बड़े-बड़े वाक्पटु कान दबाकर रफूचक्कर हो जाते। शब्द मोहल्ले के इस छोर से उस छोर तक गूंज उठता। वह शासन करना जानती थी। जब तक पति जिया उसपर शासन किया। विधवा हो गई तो बहुओं पर हकूमत चलाई। मोहल्ले-भर में उसकी धाक थी। यही

नहीं कस्बे के लोग भी जब उधर से गुज़रते तो चाची को सिर झुकाकर जाते…

पति को उसने अपने सामने सांस तोड़ते देखा। बेटी मरी, दो-दो जवान बेटे चल बसे। कई पोतो को उसने स्वयं कफन में लपेटा। जब कभी उसका पोता अब-तब का होता तो उसके दरवाज़े पर एक गम्भीर हलचल मच उठती। झाड़ने-फूंकनेवाले, टोने-टोटकेवाले आते और जाते । कभी-कभी डाक्टर-वैद्य के दर्शन भी हो जाते पर वह पास बैठी बच्चे को गौर से देखती रहती, देखती रहती। उसे विश्वास होता कि मौत खाली हाथ नहीं लौटेगी, कभी नहीं लौटेगी। मौत के पद-चिह्न जैसे वह पहचानती थी। यही नहीं, जब-जब उसके नये पोते का जन्म होता तो वह खूब हंस-गाकर, खूब ठाट-बाट से उसका स्वागत करती और जैसे ही मंगल-ध्वनि का स्वर मन्द पड़ता वह मेरी मां के पास आती और कहती, 'ना जिठानी ! देख लेना, जिएगा नहीं।'

वह आपादमस्तक कुरीतियों में डूबी हुई थी । झाड़-फूंक, टोने-टोटके, मान-मनौती, भेंट-पूजा, उसके आसपास यही सब सत्य था। वह ग्रहण का दान लेती थी, काज की मिठाइयों से उसका घर भरा रहता, मृत्यु-कर भी वह वसूल करती थी लेकिन कभी किसीने 'नीच' कहकर उसका अपमान या उपेक्षा की धृष्टता की हो सो याद नहीं पड़ा। इसके विपरीत उसके बेटे के ब्याह में सभी सवर्ण उसके घर में जीम आए थे। उसकी पक्की तिमंज़िली हवेली मोहल्ले में सबसे अलग और सबसे ऊपर चमकती थी। उसके एक ओर अग्निमुख ब्राह्मण कुल का निवास था, दूसरी ओर एक कुलीन अग्रवाल परिवार बसता था। दोनों से वह समय-समय पर सन्धि और विग्रह का खेल खेलती रहती थी। प्यार और शत्रुता दोनों की चरम सीमा उसके लिए सहजगम्य थी। प्यार करती तो सब कुछ लुटा देती, दुश्मनी पर उतरती तो कचहरी तक चली जाती। उसकी आंखों से झरने की तरह प्यार झरता तो बरसाती नाले की तरह गालियां भी उमड़तीं-उफनतीं…और मज़ाक पर उतरती तो वह चुटकी लेती कि तिलमिला देती। एक दिन घूंघट की ओट से पिताजी की ओर देखकर मेरी मां से बोली, 'क्यों जिठानी, तू दुहेजू है ?'

मां ने कहा, 'नहीं तो ?'

'लगे तो ऐसा ही है, जेठ है बुड्ढा और तू है नवेली।'

मां हंस पड़ी, 'अरी इनका उठान ही ऐसा है। मुझसे कुल एक साल बड़े हैं।'

'अच्छा,' वह खिलखिलाई, 'मैं तो समझी थी कि मां-बाप ने जिठानी को बुड्ढे से बांध दिया है।'

जब मैं उसके सामनेवाले मकान में आकर बसा तो नियमानुसार मुझे चेतावनी दी गई, 'चाची से बचकर रहना, करौंदे का झाड़ है।' इस चेतावनी में कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। मैंने स्वयं उसे कई-कई दिन तक लगातार मोरचा लेते देखा था। वह लड़ती थी और खम ठोंककर पेशेवर लड़ाकू की तरह लड़ती थी। इसलिए डर मुझे भी था लेकिन नौ साल तक उसका पड़ौसी बनकर रहने में एक बार भी ऐसा अवसर नहीं आया कि वह कभी हमसे रूठी हो। पहले दिन जिस प्रकार हंसती-इठलाती हुई आई थी और मां से घण्टों प्यार से बातें करती रही थी, अन्तिम दिन भी जब मैं इस्तीफा देकर वहां से चला तो वह सकपकाई, घबराई, दौड़ती हुई आई और बोली, 'अब नहीं आएगा ?'

'चाची, क्या करूं, सेहत खराब रहती है।

'नहीं, नहीं, बेटा ! लगी नौकरी नहीं छोड़ा करते।'

'सो तो ठीक है पर चाची···'

'ना, ना, कुछ दिन तक रह आ। सेहत ठीक हो जाएगी। कहीं ऐसे जाया करते हैं ? पगला···।' और जब मैंने घर में ताला लगाकर ताली उसे दी तो वह रुंधे कंठ से बोली, 'अच्छा लौट आना। मेरा बेटा, देख तो···'

और फिर आंखों में आंसू। मैं देखता रह गया। इन नौ सालों में कितना कुछ इस रूढ़ि-जर्जर नारी से मैंने पाया। जब भी बीमार पड़ता, दौड़ी हुई आती और घण्टों बैठी रहती। अकेला होता तो दवादारू का प्रबन्ध करती। पास आकर सोती और पेट पकड़े फिरती। स्वस्थ रहने पर न आती हो सो बात नहीं। जब-तब आती और डांटने लगती—'ऐं रे, गैर समझ रखा है ? मर्द होकर चूल्हा फूंके है। अरे तू तो हमारे घर का खा ले है। तू क्यों मरे है। तेरी मां भगतानी-शुक्लानी हैं। तू तो समाजी है।'

मैं झिझकता, 'चाची, बात यह है कि एक दिन का हो तो···'

तुरन्त बात काट देती, 'अरे, जा, जा, तू तो एक दिन भी नहीं खाता···'

और वह घर जाकर ढेर सारा सामान ले आती, लड्डू, कचौरी और न न जाने क्या-क्या···

खिलाने-पिलाने में उसे रस आता था। अपनी बहुओं को वह खूब डांटती। बेटों से पिटवाती, अक्सर रात को बड़ी बहू की चीख-पुकार से मुहल्ला कांप उठता लेकिन फिर भी यह प्रसिद्ध था, 'चाची की बहुएं राज करती हैं सोने से पीली हो रही हैं। खाने-पीने को इतना है कि राजा तरसे।' सामन्तवादी समाज-शास्त्र की जानकार चाची पीटकर भी उन्हें खूब खिलाती थी। खूब मोल-तोल करके वह उन्हें लाई थी। न जाने कितनी बार उसने वह कहानी मुझे सुनाई थी, 'अरे बेटा, हम लोगों में ऐसा ही होय है। हज़ार नाक पर मारे तब फेरे दिए सगी ने। क्या करूं बेटा! यो मरा अड़ गया शादी करूंगा तो इसी से······'

फिर बड़े ज़ोर से हंसती, 'तुझे क्या बताऊं, बेटा! बड़ा है न? उसकी बात बड़ी बेटी से पक्की कर रही थी। कुन्दन का डला थी पर कानी थी। बेटा अड़ गया। इससे शादी करेगी तो रेल की पटरी पर सो जाऊंगा। सो बेटा पांच सौ और दिए और इस गोरी भैंस को लाई। अब तुझसे क्या बताऊं, देखने की है बस। न खाक न सऊर, न धंधे का सलीका। बेटे जने तो मर-मर जा हैं। तभी पिटे है···।'

और जो बात हंसी से शुरू होती उसका अन्त रोने से होता। लेकिन उसका रोना हमेशा दुःख से भरा होता हो सो नहीं। कभी वह गर्द-भरे गर्व से भी रो पड़ती और ऐसा तभी होता जब वह अपने स्वर्गीय पति की कहानी सुनाती। एक दिन क्रोध और आंसुओं से रुंधे स्वर में वह बोली, 'आप तो चला गया पर मुझे डुबा गया बेटा! इतना पैसा था सब लुटा दिया।'

मैंने पूछा, 'किसे लुटा दिया।'

'जो भी आता, खुशामद करता, उसीको कर्ज़ दे देता और वापस न मांगता। मैं पीछे पड़ती तो कह देता, 'अब जाने भी दे, गरीब है, कहां से देगा।' मैं कहती, ओहो बड़ा गरीब है तो वह हंस देता, 'मांगनेवाले गरीब ही होते हैं···।''

और यहां आकर चाची के आंसू और भी तेज़ हो जाते। उन्हें आंचल से सुखाती हुई वह कहती, 'उस जैसा कोई हो तो। लुटा गया। कभी किसीने

लेकर दिया ही नहीं। दूकान से हर कोई पान ले जाता। क्या मजाल जो उसे भले मानस ने कभी पैसे मांगे हों। जो दिए सो लिए। हिसाब की बात चली तो हंस दिया।'

फिर मौन कुछ सुबकियां, फिर रुंधा स्वर, 'तभी सारा शहर उसे चाहे था। अरथी के साथ भीड़-ही-भीड़ थी, जो सुनता दौड़ा आता जैसे कोई अपना ही चल बसा हो···।'

लेकिन जिन रुपयों को वह पति से न बचा सकी उन्हें बेटों से बचाना भी उसके वश में नहीं था। यूं बचाने को पूरी कोशिश वह करती थी। जानती थी कि उसके पास होंगे तो बेटे छोड़ेंगे नहीं, सो मेरी मां के पास जमा कराती रहती। कहती, जिठानी ! बेटों ने मुझे खा लिया। पैसा नहीं छोड़ते। सब मर जाने अपने बाप के ऊपर गए हैं। लेकिन मैं भी मैं हूं, एक पाई नहीं दूंगी। मैं तो तीरथ करने जाऊंगी। नरक में पड़ी हूं।'

और जब वे रुपये सौ की गिनती पार कर जाते तो एक दिन चाची चीखती-चिल्लाती भागी हुई आती, 'जिठानी, रुपये दे तो।'

'क्यों, क्या तीर्थ करने जा रही है ?'

'अरे कर लिए तीरथ ! ऐसे भाग कहां जिठानी !।

'तो फिर रुपये क्या करेगी ?'

'करती क्या ? बड़ा धरना दिए बैठा है। पता नहीं जिठानी दूकान की कमाई का क्या करे। घर का खर्च मैं चलाऊं और जब दिल्ली जावे, मुझे लूट-खसोटकर ले जावे।'

और रोती-पीटती, बकती-झकती, सब रुपये बेटों को सौंप देती। बेटे शायद यह जानते भी नहीं थे कि कहां और कितने रुपये जमा हैं। बस, वे अपना रोना रोते और मां लपककर जिठानी के पास पहुंच जाती। अपने बेटों के लिए ही वह पेट की पतली हो सो बात नहीं, वह आतंक के लिए प्रसिद्ध थी फिर भी वह किसीसे दूर नहीं थी। आज जिसका सत्यानाश करने पर तुल जाती दो दिन बाद उसीसे दोहरी होकर बातें करती। ओडे-टेले में, ब्याह-शादी में आगे रहती। अपना नेग लड़-झगड़कर लेती पर उसके बाद उसी तरह लुटा भी देती। कोई कष्ट में हो, चाची उसके पास मौजूद है। किसीके साथ अन्याय हो तो चाची उसकी वकालत ही नहीं पैरवी भी करने को तैयार है। हमें भी जब-

तब रुपयों की ज़रूरत होती तो वह कहती, 'अरे तो जिठानी ! तेरे पास ही तो रखे हैं। ले क्यों नहीं लेती ?'

मां कहती, 'मैं ब्याज दूंगी ।'

सुनकर वह खूब हंसती, खूब हंसती, दोहरी हो जाती, 'ब्याज देगी । जा, जा, जिठानी ब्याज देगी ।'

यूं वह ब्याज पर रुपये न देती हो सो बात नहीं। उससे कर्ज़ लेनेवाले कम नहीं थे। ब्राह्मण कर्ज़ लेते, बनिये कर्ज़ लेते, मुसलमान कर्ज़ लेते, कहार-भंगी लेते, सभी कर्ज़ लेते। और वह सबसे खूब झगड़ती, तकादे करती, लड़ती। एक दिन क्या देखता हूं, काफी तेज़ झगड़े के बाद चाची क्रोध से बड़बड़ाती मेरे पास आकर बैठ गई। मैंने पूछा, 'क्या हुआ चाची, कौन था ?'

'था कौन, वही मनुआ कहार था।'

'रुपये मांगने आया होगा ?'

'मांगे तब जब पहले दे। मरे ने एक पाई तक नहीं दी। देख तो कितने होंगे ?'

और कहते-कहते एक कागज़ उसने मुझे थमा दिया। जैसी चाची वैसा ही जीर्ण-शीर्ण वह कागज़। कहीं पेन्सिल से लिखा, कहीं सरकण्डे की कलम से, कहीं होल्डर से। अंक भी वैसे ही अस्पष्ट। बहुत माथापच्ची, पूछताछ के बाद पता लगा कि उस कहार पर पांच सौ से अधिक रुपये हो गए थे। मैं विस्मित-सा देखता रह गया, 'पांच सौ से ऊपर हैं चाची !'

'वही तो।'

'इतने रुपये हो गए !'

'देख ले, और देने का नाम नहीं। लूट खाया मुझे तो इन नासपीटों ने। नाश जाए इनका। नींद हराम कर दी। दस साल से लिए जा रहा है...।'

और कागज़ हाथ में लेकर उसे फाड़ डाला। मैं हठात् बोल उठा, 'अरे, अरे, यह क्या करती हो ?'

'करती क्या ? वह देगा थोड़े ही। अब इसे रखकर क्यों जी जलाऊं।'

'देगा क्यों नहीं ? लिए हैं तो देगा, इन्कार तो नहीं करता ?'

'इन्कार तो नहीं करता, पर अब क्या देगा। दस साल से लिए जा रहा है। दस साल में आदमी बढ़े, बीमारी-सीमारी बढ़ी पर आमदनी वही, फिर ऊपर

से दारू पीने की लत, ये देने के लच्छन हैं ? मैंने कर्ज़ लिया होगा।'

'तुमने कर्ज़ लिया !' विस्मित-विमूढ़ मैंने कहा।

'हां, पिछले जन्म में लिया होगा, वही तो चुका रही हूं।'

और उस कागज़ को खूब फाड़कर बकती-झकती चाची वहां से चली गई और मैं सोचता बैठा रह गया कि आखिर इस आतंक और अविद्या के साथ इस अनगढ़-अटपटी सहानुभूति का क्या नाता है ? प्रेम का पौधा क्या जहालत की कीचड़ में भी पनपता रहता है ?

शरीर जर्जर, सामाजिक चेतना जर्जर, कुरीतियों में पनपी, अन्धविश्वासों में पली, जिसे शत्रु मान लिया उसे मिटा दिया, जिससे मित्रता की उसे निभा दिया, खरे के साथ खरी, खोटे के साथ खोटी, सदा पराजित और मुसीबतज़दा का साथ देनेवाली, सदा आगे रहने को, ऊपर रहने को, कुछ करने को, कुछ देने को आतुर, आज भी हंसी से दोहरी होती या क्रोध से तमतमाती उसकी काया आंखों में उभर आती है तो मनुष्य-चरित्र की अद्भुतता मुखर हो उठती है।

शरीर से परे

दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में इसे प्रथम पारितोषिक प्राप्त हुआ। इस कहानी को लेकर जितना मतभेद दिखाई देता है उतना शायद किसी ही कहानी को लेकर हुआ हो। किसीको यह कहानी भुलाए नहीं भूलती। किसीको मेरी यह सबसे रद्दी कहानी मालूम होती है। कुछ लोग इसे निहायत गन्दी कहानी कहते हैं और कुछ लोग 'रश्मि' को आदर्श मानते हैं। लोकप्रियता का यह काफी प्रमाण है। लेकिन मुझे यह कहानी इसकी कमियों के बावजूद प्रिय है। जब भी प्रिय रहती यदि इसको पारितोषिक न मिला होता। इसकी प्रेरणा के स्रोत कई हैं। उनमें विचार भी है और व्यक्ति भी। यह कहानी लिखकर मैंने बहुत कुछ सीखा है और मैं समझता हूं, अब भी मैं बहुत कुछ लिख सकता हूं।

◇

प्रदीप

रश्मि मुझसे पहली बार कब मिली, यह आज मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। शायद वह नदी-किनारे किसी पिकनिक पार्टी में मिल गई थी। तब उसके साथ उसका छोटा बेटा था। मेरी ओर संकेत करते हुए रश्मि ने उससे कहा था—'देखो, वह प्रदीप हैं, जिनका मैं तुमसे ज़िकर किया करती हूं।'

यह बात मैंने चलते-चलते सुन ली थी और तब मैंने उसे कुछ गौर से देखा था। प्रथम दृष्टि में उसे सुन्दर कहना बीसवीं सदी के सौंदर्य का अपमान हो सकता है। हां, यदि किसीके पास दूसरी दृष्टि हो, तो वह निस्संदेह रूपवती थी। उसके पतले ओठों और काली आंखों में एक मुस्कान थी जो नितान्त स्वाभाविक थी—जैसे एक प्रेमिल ज्योति से उसका मुख सदा देदीप्यमान रहता था। मुझे यह भी याद है कि तब उसने साड़ी पहन रखी थी और उसकी चाल-ढाल में स्वाभाविक अल्हड़ता थी। पल्ला जब अपने स्थान से हट जाता था तब वह उसे बार-बार उठाकर, अतिशय जागरूक नारी की तरह इधर-उधर

नहीं देखती थी, बल्कि लापरवाही से उसे ऊपर फेंककर बातों में व्यस्त हो जाती थी।

दूसरी बार रश्मि मुझे अचानक सड़क पर मिल गई। दूसरी बार मैं केवल आपके सुभीते के लिए कह रहा हूं। वरना इन मुलाकातों के गणित के बारे में मैं बिलकुल सही होने का कतई दावा नहीं करता। वह सड़कवाली मुलाकात काफी लम्बी हो गई थी। तब वह अकेली थी और मुझे भी कोई विशेष काम नहीं था। बातें क्या-क्या हुईं; उसका ब्योरा मेरे पास नहीं है, पर उस दिन ज़्यादातर बोलने का काम उसीने किया था। मैं तो लगभग सारा समय उसके मुख को ही देखता रहा था। न जाने कौन-सी बात के बाद उसने कहा था, 'मैं तुम्हें युग-युग से जानती हूं।'

मैंने कहा, 'मुझे तो याद नहीं पड़ता कि हम कभी मिले हों।'

वह बोली, 'किसीको जानने के लिए क्या उससे मिलना ज़रूरी है?'

मैंने सहसा कुछ नहीं कहा, वह बोली, 'बताओ न!'

मैंने उसे देखते हुए कहा, 'नहीं, कोई ज़रूरी नहीं।'

तब वह हंस पड़ी थी और उसने कहा था, 'तुम्हारी सब रचनाएं पढ़ चुकी हूं और मैंने ऐसा महसूस किया है कि जैसे तुम्हारी कमल के साथ मेरा तादात्म्य भाव रहा है।'

'मैं भाग्यशाली हूं,' मैंने मुस्कराकर कहा।

वह बोली, 'शिष्टाचार की भाषा बड़ी कृत्रिम होती है और मैंने कहीं पढ़ा है कि कृत्रिम और कुरूप परस्पर समान हैं।'

इस चोट से मैं तिलमिला उठा था, पर फिर भी उसे पीकर मैंने कहा था, 'तुम बहुत पढ़ती हो?'

'ऊं हूं। पढ़ने लायक बहुत कहां मिलता है? बहुत कुछ तो दाल पर के उफान की तरह का होता है।'

लेकिन उस दिन की एक खास बात जो मुझे याद है वह यह है कि बातों के बीच में अचानक वह हड़बड़ाकर बोली, 'ओह, देर हो गई। वह राह देखेंगे।'

और फिर हंसती हुई वह जैसे आई थी वैसे ही चली गई। उसके बाद हम अक्सर मिलते रहे। मैं उसके घर भी गया। उसके बच्चों से मेरा अच्छा संबंध

हो गया, पर उसके पति से मैं देर तक नहीं मिल सका। वह सरकार के किसी विभाग में एक बड़े अफसर थे। सवेरे कार में बैठकर जाते थे और अंधेरा होने पर लौटते थे। दूर होने के कारण लंच वगैरह का प्रबन्ध भी उन्होंने दफ्तर के पास ही कर लिया था।

पर एक दिन अचानक उनसे भेंट हो ही गई। रश्मि, बच्चे और मैं बैठे चाय पी रहे थे कि वे आ गए। रश्मि सहसा हड़बड़ाकर उठी। यह सब एक क्षण से भी कम समय में हुआ, क्योंकि जब वह बोली तब उसका स्वर बिलकुल स्वाभाविक था। उसने कहा, 'आ गए ?'

'हां, कुछ जल्दी लौट आया।' कहकर उन्होंने एक उड़ती नज़र सबपर डाली, मुझपर अटक गए।

रश्मि बोली, 'प्रदीप हैं।'

सुनकर सहसा उनके चेहरे पर अनेक रंग आए और गए।

पर वह तुरन्त ही बोले, 'तो आप हैं प्रदीप ?'

और फिर दृढ़ता से आगे बढ़कर उन्होंने मेरा हाथ झंझोड़-सा डाला, 'तो आप प्रदीप हैं ! मिलकर खुश हुआ, बहुत खुश ! भाग्यशाली हो दोस्त। यहां तो सरकारी माल-गाड़ी के डिब्बे हैं। आप हैं कि जीते हैं।'

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर न देकर वे बाहर जाने को मुड़े। रश्मि ने कहा, 'चाय नहीं पिओगे ?'

'नहीं।'

'प्रदीप क्या कहेंगे ? कहां जा रहे हो ?'

'प्रदीप कलाकार हैं। वह हमारी दुनिया के इन छोटे-छोटे शिष्टाचारों की चिन्ता नहीं करेंगे।'

और वे चले गए। जैसे धुएं का एक बादल उमड़ा और एक घुटन छोड़कर चला गया। अच्छा नहीं लगा, पर रश्मि थी कि हंस पड़ी, 'गजेटिड आफिसर हैं। अपना स्वभाव कैसे छोड़ें ? अपनी करेंगे।'

कुछ देर बाद मैं भी चला आया और फिर कई दिन तक रश्मि से नहीं मिला। जान-बूझकर टालता रहा, पर एक दिन वह अचानक दफ्तर में आ धमकी, बोली, 'बहुत नाराज़ हो ?'

'नहीं, नहीं तो।'

'झूठ मत बोलो ।'

'झूठ ?'

'झूठ तो है ही । नहीं है ?'

'है ।'—मैंने सहसा मुस्कराकर कहा ।

वह तब अपने स्वभाव के विपरीत दो क्षण चुप रही, फिर बोली, 'कोई किसीको इतना प्यार क्यों करता है ?'

मैंने सहसा उसे देखा । वह उसी तरह मुस्करा रही थी, पर जैसे आज वह कुछ-कुछ तरल हो। मैंने कहा, 'जो प्यार करनेवाला है वही इस बात को जानता है ।'

'ना, वह नहीं जानता ।'

'तो शायद वह प्यारा नहीं करता ।'

'क्या प्यार के लिए उसके कारण का ज्ञान ज़रूरी है ?'

मैंने घबराकर कहा, 'रश्मि, ज्ञान ज़रूरी न हो, पर होता तो वह ज़रूर है ।'

'होता है, पर क्या उसे जानना ज़रूरी है ? यह मैं तुमसे पूछती हूं ।'

'मुझे इसका जवाब एकाएक नहीं सूझता ।'

'ऐसा अक्सर होता है, पर जब तुम कोई कहानी लिखोगे, तब इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारी कलम की नोक पर ऐसे ही आ जाएगा जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश फूट पड़ता है ।

फिर उठती हुई बोली, 'उठो, कहीं घूम आएं ।'

मैंने आपत्ति नहीं की और कुछ देर बाद दूर एकांत में नदी-किनारे हम फिर बातों में रम गए। रात्रि और दिवस के उस संधिकाल में वह मुझे बड़ी प्रिय लगी। वह बातों में तन्मय थी और मुझसे सटकर बैठी हुई थी। न जाने कब और कैसे मैंने उसके मुंह को अपने दोनों हाथों में पाया तो मैंने एकाएक उसे चूम लिया। उस क्षण उसने तनिक भी प्रतिरोध नहीं किया पर जैसे ही मैंने उसे मुक्त किया वह द्रवित होकर बोली, 'यह तुमने क्या किया ?'

'मैं स्वयं नहीं जानता ।'

'नहीं, नहीं,' उसने और भी विह्वल होकर कहा, 'मुझे अपने से दूर मत करो ।'

'क्या कहती हो ?'

'कहती हूं अब इज़्ज़त रहेगी मेरी, तुम्हारी दृष्टि में ?'

और वह तीव्र गति से कांपने लगी। उसका मुख विवर्ण हो आया। नेत्रों की ज्योति फीकी पड़ गई और उसने सहारे के लिए धरती पर ज़ोर से हाथ दबाया। मैं इतना घबरा उठा कि न तो चिल्ला सका, न उसे छू सका। पर कुछ ही क्षण में वह शान्त हो गई और स्वाभाविक स्वर से बोली, 'मैं तो सदा तुम्हारे साथ रहती हूं। तुमने मुझे दूर क्यों समझा प्रदीप ? मैं तुम्हें चाहती हूं, शरीर को नहीं। शरीर तुम नहीं हो।'

जैसे सहस्र बिच्छुओं ने एकसाथ काटा हो, मैंने चीखकर कहा, 'रश्मि, तुम इतनी रहस्यमयी हो ?'

"कहां, प्रदीप ? मैं मन्दिर में पूजा के प्रदीप कहां जलाती फिरती हूं। मैं तुम्हें चाहती हूं, केवल तुम्हें !'

'और अपने पति को नहीं ?' मैं कुछ कठोर यन्त्रवत् चिल्लाया।

'पति को चाहती हूं। वह तो कर्तव्य है। उसकी मैंने प्रतिज्ञा ली है।'

'उस कर्तव्य में क्या प्रेम की शर्त नहीं है ?'

'है, पर निस्सीम स्वार्थ ने उसे सीमित कर दिया है। प्रेम जब सीमा का बंधन स्वीकार करता है तभी वह कर्तव्य बन जाता है। और फिर तुम क्या वही चाहते हो जो स्वामी को दे चुकी हूं ? देवता पर क्या निर्माल्य चढ़ाया जाता है ?'

मैं कई क्षण चुप रहा। वह मुझे देखती रही। मैंने कहा, 'तुम मेरे पास मत आया करो।'

'नाराज़ होकर कहते हो या प्रेम से ?'

'मुझे तुमसे प्रेम करने का कोई हक नहीं है। तुम्हारे पति हैं और वे बड़े ईर्ष्यालु हैं।'

'तुम्हें क्रोध आ रहा है प्रदीप !'

'क्या वे ईर्ष्यालु नहीं हैं ?'

'बेहद हैं।'

'फिर ?'

'फिर भी मैं उन्हें प्यार करती हूं।'

'रश्मि !'

'सच कहती हूं । मैं उन्हें प्यार करती हूं । बेशक वे ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि उनमें स्वामित्व की भूख है, पर प्रदीप, उनमें शरीर की भूख नहीं है। शरीर उनका है पर वे भूखे नहीं हैं ।'

'क्या कहती हो ?'

'जो कुछ कहती हूं वह तुम समझते हो ।'

मैंने पूछा, 'तुम्हारे पति को पता लग जाए कि तुम यहां आती हो, तो क्या हो ?'

'पता क्या नहीं लगता ? वे टोह में रहते हैं और जब पूछते हैं तब मैं छिपाती नहीं ।'

'फिर ?'

'फिर क्या, युद्ध होता है । कई दिन वे खाना नहीं खाते। मैं भी नहीं खाती, पर फिर सब ठीक हो जाता है ?'

'ऐसा अक्सर होता है ?'

'अक्सर ।'

'फिर तुम आती क्यों हो ?'

'पता नहीं ।'

'यह क्या मोह नहीं है ?'

उसने मुझे देखा। क्या बताऊं वह कैसी दृष्टि थी। कई क्षण तक देखती रही, देखती रही । फिर वह सहसा उठ खड़ी हुई, हंसी और बोली, 'ओह ! वे आनेवाले होंगे, जाती हूं ।'

बहुत दूर हम साथ-साथ चले, मौन । फिर एक नियत स्थान पर आकर उसने हाथ जोड़कर गहरे स्वर में कहा, 'अच्छा।' और वह चली गई। देर तक वह 'अच्छा' शब्द मेरे हृदय का मन्थन करता रहा और देर तक उसके बारे में सोचता हुआ मैं उसी तरह चलता रहा ।

रश्मि

उस दिन सारे रास्ते सोचती गई कि इस मोह ने मुझे कैसे जकड़ रखा था ? प्रेम का दावा कितना झूठा था ? मुझसे तो मेरे पति ही सत्य के अधिक

पास हैं। पति का ध्यान आते ही मुझे वे दिन याद आ गए जब वे मुझसे विवाह करने की प्रार्थना करने आया करते थे। वे लम्बे-लम्बे पत्र लिखते थे पर मिलने पर कभी कुछ नहीं कहते थे। बस अगला पत्र पहुंचाने का स्थान बताकर चले जाते थे। शादी हो जाने के बाद भी वे ऐसे ही रहे। वे कहते कुछ नहीं थे। उन्हें समझना होता था, पर मैं उन्हें कैसे बताती कि मुझे भी कोई समझ पाता। देख-सुन सब सकते हैं, पर समझने के लिए जो हृदय चाहिए वह हर एक के पास नहीं होता। पर सारा दोषारोपण उन्हींपर कैसे करूं! मुझे स्वीकार करना होगा कि उन्होंने मुझे अपने बच्चे की मां तो बनाया, पर कभी विलास की सामग्री नहीं माना। घर की स्वामिनी बनाकर जैसे उन्होंने छुट्टी ले ली। विश्वास की इतनी निधि उन्होंने मुझे दी, पर नारी को क्या केवल यही विश्वास चाहिए?'

मैं इसी तरह सोचती जा रही थी कि घर आ गया। देखती क्या हूं कि वे बरामदे में टहल रहे हैं। मैं जैसे ही ऊपर चढ़ी, वे बोले, 'रश्मि!'

'जी।'

'घूमने गई थीं?'

'जी।'

'प्रदीप के साथ?'

'जी।'

'फिर उसे छोड़ कहां आईं?'

'वे अपने घर गए।'

'और तुम?'

'मैं अपने घर आ गई।'

'यह तुम्हारा घर है?'

'जी हां।'

वे सहसा तेज़ हो उठे, 'दुष्टा! दूर होजा मेरी आंखों के सामने से। यह तेरा घर नहीं है। मैं तुझे अन्दर नहीं आने दूंगा।'

मैं ठिठकी नहीं, बढ़ती चली गई। वे रोकने को आगे बढ़े, पर मैंने दरवाजा खोल लिया, और कहा, 'देर हो गई, अन्दर आ जाइए।'

'मैं कहता हूं, जाओ।'

'कहां जाने को कहते हो ?'

'प्रदीप के पास ।'

'मैं उनके पास कभी नहीं जाऊंगी।'

'आज तक जाती रही हो, झूठ बोलती हो ?'

'झूठ नहीं बोलती। आज तक जाती रही हूं, पर आज पता लगा कि वह गलती थी।'

'क्या···क्या ?' वे जैसे निरस्त्र हुए।

'मैं आज के बाद उसके पास नहीं जाऊंगी।'

'नहीं जाओगी ?'

'नहीं।'

'रश्मि !'

'विश्वास नहीं आता ?'

'नहीं।'

'तुमने मेरा विश्वास किया ही कब है जो आज करोगे।'

'मैंने तुम्हारा विश्वास नहीं किया ?'

'ईर्ष्या करनेवाले विश्वास कैसे कर सकते हैं ?'

'रश्मि !' वे कांपे। वे अब तक किवाड़ पकड़े खड़े थे। आवेश का उफान अब उतर चला था। उन्होंने किवाड़ छोड़ दिया और फिर बेंत उठाकर बाहर उतरे चले गए। मैं कांपकर बाहर आई। पूछा, 'कहां जाते हो ?'

कोई जवाब नहीं मिला।

'मैं भी आ रही हूं।' और मैं पीछे-पीछे चली। कुछ दौड़ना पड़ा। फिर पास आकर बगल में चलने लगी। पर उस रात मैं उन्हें मना न पाई। हम शीघ्र लौटे और बिना खाए-पिए सो गए। चार दिन तक वे मुझसे नहीं बोले। पांचवें दिन एक ऐसी घटना हो गई जिससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई। मेरा छोटा देवर मेरे लड़के शेखर के साथ खेल रहा था। अचानक क्या देखती हूं कि शेखर चीखता हुआ आ रहा है। मेरे भीतर जो मां थी वह तड़प उठी। मैंने पूछा, 'क्या हुआ ?'

'चाचा ने मारा। हमारी बारी थी, बारी नहीं दी। फिर मुझे मारा।'

बच्चे के गालों पर खून चमक आया था। मैं जैसे पागल हो उठी। मैंने

देवर को आड़े हाथों लिया। वह भी खूब बोला। वह एक अशोभनीय बात थी, पर हो गई। घर में चूल्हा तक न जला। वे शेखर को प्यार करते थे—भाई की नसों में भी वही रक्त था जो उनकी नसों में था। सब कुछ सुनकर वे गंभीरता से सोचते रहे, फिर उन्होंने मुझसे इतना ही कहा, 'तुम्हारा मोह इतना कड़वा है ?'

जो बात मुझे कचोट रही थी वही हुई। वे मुझपर गुस्सा नहीं हुए। बस इतना कहकर मुड़ चले। न जाने मुझे क्या हुआ मैंने झपटकर उनका पल्ला पकड़ लिया, बोली, 'मुझसे गलती हो गई।'

उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया। मुझे नहीं मालूम कि दोनों भाइयों में क्या बात हुई। तेज़-तेज़ आवाज़ें मैंने सुनीं। जी में आया, जाकर अभी माफी मांग लूं। पर हुआ यह कि देवर कई दिन तक रूठा रहा। मैंने माफी मांगी तो भी वह न माना। उन्होंने कहा, 'क्यों पीछे पड़ी हो ? आप ठीक हो जाएगा।'

इस घटना के बाद मेरी उनसे सुलह हो गई। वह सुलह काफी लम्बी रही क्योंकि अब मैं अक्सर घर रहती थी। यद्यपि मेरा अधिक समय किताबों के साथ बीतता था, पर मैं उनके आने पर सदा बरामदे में मिलती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं उन्हें वहां नहीं मिली। वे सीधे मुझे ढूंढ़ते हुए पुस्तकालय में पहुंच गए। मैं पढ़ रही थी। बोले, 'क्या पढ़ रही हो ?'

'प्रदीप का नया उपन्यास है।'

'ओह···!'

'बहुत सुन्दर है। एक नारी का चित्रण है जो···।'

'समझता हूं, तुम्हारा होगा।'

उनकी वाणी में काफी तलखी थी, पर इधर ध्यान न देकर मैं चिल्ला उठी, 'तुम कैसे जानते हो ? क्या तुमने पढ़ा है ?'

किसीको जानने के लिए उसकी हर पुस्तक पढ़ना ज़रूरी नहीं। प्रदीप तुम्हारे अतिरिक्त और किसीका चित्रण नहीं कर सकता।'

'सच कहते हो। उसके प्रत्येक शब्द में मैं रहती हूं। उसकी प्रत्येक भावना में मैं सांस लेती हूं। उसके प्रत्येक विचार में मैं जीती हूं। 'कहते-कहते मैं जैसे खो-सी गई। देखा तो वे तिलमिला रहे थे। उन्होंने तेज़ी से कुरसी को धक्का दिया। मेज़ पर का फूलदान नीचे गिरकर खील-खील हो गया। जैसे यही कम

न हो, वह तेज़ी से बूटों की आवाज़ करते और किवाड़ खड़खड़ाते बाहर चले गए। मैं जैसे जागी, पीछे दौड़ी, 'क्या हुआ ? सुनो तो, पूरी बात तो सुनो।'

'नहीं, नहीं, नहीं !'

'सुनो ।'

'मुझे कुछ नहीं सुनना, मुझे कुछ नहीं सुनना।' उन्होंने चीखकर कहा, 'तुम मुझे धोखा देती रही हो, तुम मुझसे छल करती रही हो। तुम उससे प्रेम करती हो, तुम उसे चाहती हो।'

'सुरेश, सुरेश !' मैंने नाम लेकर पुकारा। गजेटिड आफिसर की पत्नी होने के बावजूद मैं कभी उनका नाम नहीं लेती थी। वह बार-बार मेज़ पर सिर पटक-पटककर बोले, 'तुम मुझे नहीं चाहतीं। नहीं, नहीं···।'

'क्या करते हो ?' मैंने उन्हें समझाया, 'बच्चे क्या कहेंगे ?'

'बच्चे ?' उन्होंने दांत भींचे, 'बच्चे सब कुछ जानते हैं। वे मेरे नहीं हैं।'

'सुरेश !' मैंने चीखकर कहा, 'नहीं, नहीं, तुमने यह नहीं कहा।'

'मैंने कहा है। मैं कहता हूं। बच्चे मेरे नहीं हैं, नहीं हैं।

मैंने किसी तरह अपने को संभालकर कहा, 'सुरेश, तुम आवेश में हो फिर बातें करूंगी।'

उन्हें ऐसे ही छोड़कर मैं बाहर आई। क्या देखती हूं कि प्रदीप खड़ा है। गुस्सा आना चाहिए था, पर हुआ यह कि मैं मुस्करा उठी, 'तुम !'

प्रदीप ने कहा, 'जाता हूं।'

और वे मुड़ते चले गए। मैंने चीखकर पुकारना चाहा, हाथ भी उठाया पर न मैंने पुकारा न वे रुके। मैं अन्दर दौड़ी चली गई। मैंने सुरेश से कहा—'सुनते हो, प्रदीप आए थे।'

पर मैं देर से पहुंची। सुरेश के हाथ में प्रदीप का पत्र था। उसमें लिखा था—

प्रिय मित्र,

खेद है मेरे कारण आपके शान्त जीवन में तूफान आ गया है, पर विश्वास करिए, मैंने इसे कभी नहीं चाहा। जहां तक जान सका हूं रश्मि भी नहीं चाहती। फिर भी वह है तो। मैं आज यह कहने आया था कि मैं कल यह नगर

छोड़ रहा हूं। पर जो देखा उससे साहस नहीं हुआ। सो लिखकर प्रणाम करता हूं।

आपका मित्र—
प्रदीप

पढ़ लेने पर दोनों में कोई बात नहीं हो सकी, पर तनाव आप ही आप ढीला पड़ गया। मुझे तो ऐसा लगता रहा जैसे प्रदीप लौटकर आ रहे हैं। जहां भी मैं गई मैंने उनकी हंसी सुनी। उनका सौम्य-शान्त मुख देखा। उनकी प्रेमिल आंखों को झांकते पाया। लगा जैसे वे कहीं से निकल आए हैं, पर यह सब अन्दर की बात है। बाहर तो वे सचमुच चले गए थे और इसीलिए शान्त-मन काम करती रही। सवेरे जब गाड़ी का वक्त होनेवाला था, मैंने प्रदीप को स्टेशन जाते, टिकट खरीदते और गाड़ी में चढ़ते देखा। वे जैसे बर्थ पर बैठकर कहीं दूर खो गए हैं। निश्चय ही वे मेरे बारे में सोच रहे थे। न सोचते तो जाते कैसे? इसी समय सुरेश तेज़ी से आए, कहा, 'रश्मि, तुम स्टेशन चलना चाहोगी?'

मुझे ताज्जुब हुआ, बोली, 'क्यों?'

'शिष्टाचार के नाते हमें प्रदीप को नमस्कार करना चाहिए।'

मैंने कहा, 'मैं नहीं जाऊंगी।'

'रश्मि!'

'तुमने एक दिन कहा था कि प्रदीप शिष्टाचार में विश्वास नहीं करता।'

'मुझे याद है, पर वह करता है।'

'कैसे जाना?'

'कल आया जो था।'

नहीं जानती थी कि स्वामी इतनी करारी चोट करना जानते हैं। फिर भी मैंने कहा, 'पर मैं नहीं जाऊंगी।'

'मैं जो कहता हूं इसलिए?'

'नहीं।'

'नहीं कैसे?' वह क्रोध में भभक उठे।

'मैंने कहा, इसलिए तुमने इन्कार किया है।'

'न कहते तो क्या मैं जाती?'

'हां, जातीं । जाने को तुम तड़प रही हो ।'

ग्रौर वे तेज़ी से चले गए। मैं देखती रह गई । मैं जानती हूं कि मैं उनके साथ चली जाती तो वे मुझे खा जाते, पर मैं उन्हें क्या दोष दूं ? ग्रपराधिनी तो मैं हूं । मैंने क्यों प्रदीप को खोजा ? क्यों उसे चाहा ? पर मैं स्वयं इस 'क्यों' को नहीं जानती । सब कुछ जानना न सम्भव है न ग्रावश्यक। वे स्टेशन गए ग्रौर लौटकर उन्होंने सब कुछ बताया। कुछ नया नहीं लगा, क्योंकि मैं स्वयं वहां थी। साथ जा भी रही हूं। जितने के स्वामी मालिक हैं उससे परे जो है वह तो प्रदीप के साथ है ।

फिर बहुत दिन बीत गए। स्वामी ग्राजकल बहुत खुश हैं, क्योंकि मैं निरन्तर उनमें खो जाने का प्रयत्न करती रहती हूं । उन्हें चिढ़ाती रहती हूं, खिझाती हूं, ऐसा बरताव करती हूं, जैसे हमारा ग्रभी-ग्रभी विवाह हुग्रा है। उन्होंने एक दिन दफ्तर से लौटकर कहा, 'ग्ररे रश्मि, तुमने सुना ?'

'क्या ?'

'प्रदीप ने विवाह कर लिया।'

मैंने मुस्कराकर कहा, 'सच ?'

'हां, देखो उसने हमें निमन्त्रण तक नहीं भेजा।'

मैं हंसकर रह गई । उन्होंने एक क्षण रुककर कहा, 'क्या कोई उपहार भेजकर हम उसे चकित नहीं कर सकते ?'

'यह उसका ग्रपमान होगा ।'

'ग्रोह !' उनकी मुद्रा कठोर हो गई। उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं, उसे उपहार भेजना चाहिए ।'

वे चले गए, लेकिन वे उपहार भेज सकते इससे पूर्व उन्हें दूर दक्षिण की यात्रा पर जाना पड़ा। लौटे तो विषम ज्वर से पीड़ित थे। तब दो महीने तक हमारा घर ग्रस्पताल बना रहा । मैं उनकी पट्टी से लगी रही । उन्हें जब समझने जितना होश ग्राया तब वे ग्रक्सर मेरा हाथ दोनों हाथों में दबा लेते, सहलाते रहते फिर माथे पर फेरते रहते । एक दिन बोले, 'रश्मि !'

'जी ।'

'तुम कितनी ग्रच्छी हो !'

'आप अच्छे हैं तभी तो मैं अच्छी हूं।'

'नहीं रश्मि, मैं अच्छा नहीं हूं।' और कहकर वे रो पड़े, 'रश्मि, मैं पापी हूं। मैंने तुम्हें समझा नहीं···।'

'चुप नहीं करोगे!'

'नहीं, नहीं, आज कह लेने दो। मैंने प्रदीप को लेकर तुम्हें कितना दुःख दिया। रश्मि, अब मुझे तभी सुख होगा जब तुम उससे मिलोगी। तुम उससे मिलो, उसकी पुस्तकें पढ़ो, उसे बुलाओ। मुझे तुमपर विश्वास है।'

'अब चुप हो जाओ। तुमसे किसने कहा कि तुम मेरा अविश्वास करते हो?'

'नहीं, नहीं, मैं करता हूं। मैं करता हूं। मुझे पेन दो।'

'पेन?'

'दो न।'

मैं कागज़-कलम उठा लाई। वे 'बोले, लिखो।' मैंने लिखा, 'जब मैं अच्छा होता हूं तब तुमपर शंका करता हूं। मैं आज कहता हूं कि तुम प्रदीप से मिलने को स्वतंत्र हो। मेरे मना करने पर भी जा सकती हो।' फिर उन्होंने दस्तखत कर दिए। तब मैंने उसे फाड़ डाला।

वे ठगे-से बोले, 'यह क्या किया तुमने?'

'मेरी सम्पत्ति थी, नष्ट कर दी। क्या मुझे इतना छोटा समझा है कि अपने और स्वामी के बीच में कागज़-कलम को आने दूंगी?'

उन्होंने आंखें बन्द कर लीं। आंसू की दो बूंदें गालों पर बह आईं। कहा, 'काश कि मैं बीमार हूं!'

'हटो भी, क्या अशुभ बातें करते हो।'

'सच।'

'चुप रहो। नहीं मैं चली जाऊंगी।'

मैंने कुछ ऐसे कहा कि वे मौन हो गए। बस चुपचाप मेरा हाथ थपथपाते रहे। लेकिन इस सबके बावजूद क्या मैं यह स्वीकार कर सकती हूं कि मैं प्रदीप से जुदा थी?

फिर वे अच्छे हो गए। फिर मैं बीमार पड़ गई और एक दिन चारपाई पर लेटे-लेटे क्या देखती हूं कि डाक्टरों ने सिर हिला-हिलाकर मेरे पति को डरा दिया है। उनके चले जाने पर मैंने स्वामी को बुलाया, 'क्यों जी, डाक्टरों

के चक्कर में क्यों पड़े हो ? मैं ठीक हो जाऊंगी ।'

वे बोले नहीं, रो पड़े । मैंने कहा, 'छिः, छिः, पुरुष हो । मुझे तो देखो ।'

वे फिर भी नहीं बोले । चुपचाप मेरा पीला हाथ दबाते रहे। मैंने जी भरकर उन्हें देखा। एक दिन मुझे क्या पागलपन सूझा। बच्चों को बुलाकर स्वामी को सौंप दिया, जैसे अब तक वे उनसे दूर थे। था न यह मेरा मोह ! यह पिशाच क्या किसीको छोड़ता है ?...पर अब नहीं लिखा जाता। बस अब तो चुपचाप लेटकर जहां तक देख सकूं देखने को जी चाहता है।

प्रदीप

कैसे बताऊं कि कैसे मैंने उसे भूलने की खातिर कलम की नोक में खो जाने का प्रयत्न किया ? पर हर बार क्या देखता हूं कि मेरी हर रचना में वही उपस्थित है। वह हर बार मानो घोषणा करती, 'मेरी बात मानो। मुझे तुमसे कोई जुदा नहीं कर सकता । वह अमिट दूरी भी नहीं जिसे मौत कहते हैं।' मैंने तंग आकर विवाह कर लिया, पर वह निर्लज्ज तो तब भी नहीं हटी ।...कैसे कह गया मैं उसे निर्लज्ज ! लज्जा उसके लिए बनी ही नहीं थी ।

मैं एक दिन न जाने किस रंग में था कि अपनी पत्नी नीरजा को उसकी सारी कहानी सुना बैठा । सुनाकर बोला, 'क्या यह असाधारण नहीं है ?'

नीरजा जो एक अच्छी चित्रकार थी, सहसा बोल उठी, 'नहीं तो ! असाधारण इसमें ऐसा क्या है ?'

'पति के रहते उसका मेरे प्रति प्रेम ।'

नीरजा ने शान्त भाव से कहा, 'पति के प्रेम से इसका क्या सम्बन्ध है ? अपने आदर्श को वह तुममें पाती रही है। जहां आदर्श की एकता है वहीं अद्वैत है। जहां अद्वैत की भावना है वहां शरीर आ ही नहीं सकता। इस अर्थ में चाहो तो तुम उसे असाधारण कह सकते हो । वरना पति-पत्नी इसमें आते ही नहीं ।'

जैसे बरफीले कुहासे को चीरकर स्वर्णिम सूर्य-प्रकाश धरती पर उतर आता है ऐसे ही मुझे लगा । मैं नीरजा का हाथ दबाकर पूरे एक क्षण तक उसे देखता रहा। उस एक क्षण में अनन्त विचार मेरे मन में उठे । फिर मैंने कहा, 'नीरू, लेकिन...लेकिन क्या मैं उसे कभी नहीं भूल सकता ?'

'नहीं, वह तुम्हारे बस की बात नहीं है। वह तुम्हारी भावना का अंग है ।'

और सहसा नीरू वहां से उठकर चली गई। यह हमारे विवाह के तीन वर्ष बाद की घटना है। वह तब मां बन चुकी थी। उसकी इस अनुभूति से मैं भर उठा। मैं इन बातों को नहीं जानता था, ऐसी बात नहीं थी, पर नीरू भी उसे इस तरह समझती है यह ज्ञान मेरे लिए, मैं मानूंगा, आश्चर्यजनक प्रसन्नता का कारण हुआ। मैं नीरू के पास आने लगा। मैं अपनी रचनाएं पहले भी उसे सुनाता था, पर अब तो जैसे मेरा नियम हो गया। वह भी अपने प्रत्येक चित्र की भाव-व्यंजना को लेकर बड़ी देर तक मेरे साथ बहस करती, पर मैंने देखा कि मेरी कलम की नोक पर रश्मि का ही अधिकार था। मैंने नीरू से फिर इसकी चर्चा की। पूछा, 'क्या तुम मेरी कलम की नोक पर नहीं आ सकतीं ?'

वह शरारत से हंसी, बोली, 'मैं तुम्हारी पत्नी हूं।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब यही कि मैं एक ही स्थान पर रह सकती हूं—प्रेमिका के या पत्नी के पद पर।'

'क्या पत्नी कलम की नोक पर नहीं आ सकती ?'

'नहीं, नहीं, नहीं! इतना भी नहीं जानते···' वह लोट-पोट होती गई, कहती गई।

आप समझते होंगे कि तब मैं विमूढ़-सा होकर लजा गया हूंगा। नहीं, यह सब तो मैं सदा जानता रहा हूं, पर मैं जिस एक बात को जीतना चाहता था वह यह थी कि रश्मि अब मुझे अधिक मोहाविष्ट कर रही थी। मैं उसे दूर हटाकर नीरू के पास जाना चाहता था, पर हुआ यह कि मेरा प्रत्येक ऐसा प्रयत्न मुझे रश्मि के और पास ले आया। अब मैं तो प्रतिक्षण उसे देखने लगा। किसी भी क्षण कहीं आकर वह मेरे नेत्र मूंद लेती, खिलखिलाकर मुझे डरा देती। मुझे आलिंगन में बांधकर खूब झंझोड़ती। आखिर एक दिन मैंने निश्चय किया कि मैं कल रश्मि के पास जाऊंगा और जो कुछ होगा सहूंगा, पर हुआ यह कि जब तक मैं उस निश्चय को पक्का करूं, एक सवेरे क्या देखता हूं—सुरेश आए हैं।

मैंने मन की हड़बड़ी को यथाशक्ति वश में करते हुए कहा, 'आप !'

'हां, अभी आया हूं।'

ज़रूरी सरकारी काम से आना पड़ा होगा ?'

'नहीं, तुमसे ही कुछ काम था।'

'मुझसे ? मैं मान लूं ! मैं विस्मित हुआ था और उनकी गम्भीर आकृति में मुझे कुछ बदशकुनी भी नज़र आ रही थी। मैंने उत्सुकता दबाकर उन्हें बैठाया। बातचीत करने की चेष्टा की, पर वह भयंकर रूप से अपने में सिमटे रहे। मैं निरन्तर रश्मि को ढूंढ़ता रहा। पर न जाने क्यों उसका नाम जिह्वा पर आ-आकर लौट जाता था। तब नीरू कहीं बाहर गई हुई थी, इस कारण मेरी स्थिति और भी खराब थी। मैं क्या करूं ? ये बोलते क्यों नहीं ? रश्मि की बात क्यों नहीं करते, फिर सहसा वे बोले, 'प्रदीप, क्या तुम्हें पता है कि रश्मि अब इस दुनिया में नहीं है ?'

मैं सिहर उठा, 'क्या ?'

'हां, दो वर्ष पहले एक छोटी-सी बीमारी के बाद वह मर गई।'

मैं चीख उठा, 'दो वर्ष पहले !'

'हां, मुझे खेद है कि मैं तुम्हें···नहीं, खेद की कोई बात नहीं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें सूचना नहीं दी।'

तब की अपनी अवस्था कैसे बखान करूं ? कर ही नहीं सकता। प्रलय क्या कभी किसीने देखी है ? लेकिन वे तो कुछ कहे जा रहे थे। मैंने सुना वे कह रहे थे, 'प्रदीप, सच कहूं तो मैंने ही उसकी हत्या की है। बीमारी तो बहाना थी। असल में वह इस धरती के योग्य नहीं थी और मैं था धरती का कीड़ा। इसलिए मैंने उसे मार डाला।'

फिर वे हंस पड़े—वह पागल-सी हंसी ! मैंने तड़पकर कहा, 'कैसे मार डाला ?'

'उसके चरित्र पर शंका कर-करके।'

फिर उन्होंने छोटा-सा सूटकेस खोला। उसमें से कई सुन्दर पैकेट निकाले। मैंने देखा, प्रत्येक पैकेट पर रश्मि ने अपने हाथ से सुन्दर अक्षरों में कुछ लिखा था। मैंने पढ़ा, पहले पैकेट पर लिखा था, 'तुम्हारे विवाह की प्रत्येक गति-विधि की मैं साक्षी हूं। मुझसे भागकर क्या तुम छिप सकोगे ? भागना तो, बन्धु, मोह है। यह पैकेट भी मोह का प्रतीक है, पर तुम्हें भेज कहां रही हूं ! तुमने निमन्त्रण नहीं भेजा तो पैकेट भेजकर तुम्हारा अपमान क्यों करूं ?'

दूसरे पर लिखा था, 'तुम न बताओ। तुम्हारे शिशु के सुनहरे बाल मैंने

चूम लिए हैं। और देख रही हूं कि उसकी सूरत तुम दोनों से अधिक मुझसे मिलती है।'

तीसरे पैकेट में अनेक पत्र थे। एक पत्र में लिखा था—

प्रिय बन्धु,

मैंने तुमसे कहा था कि स्वामित्व की भूख शरीर की भूख से बड़ी होती है। क्या तुम नहीं जानते कि सतीत्व स्वामित्व की इस भूख का ही व्यापारिक नाम है। मैंने तुम्हारी रचनाओं में यह प्रतिध्वनि सुनी है।

दूसरा पत्र था—

प्रिय बन्धु,

आज तुमसे बहुत बातें हुईं। तुम्हारी कहानी 'निशेष' में शारदा मैं ही तो हूं, निरोध तुम हो। उस सारी बहस को पढ़ते हुए मुझे स्पष्ट तुमसे बहस करनी पड़ गई, पर बहस तो कमज़ोरी का दूसरा नाम है, क्योंकि उसमें हारने-जीतने की भावना है, और उपदेश देना है अहम् का विस्फोट···। क्या करें धरती के वासी ठहरे, कैसे बचें इस सोचने से ? क्यों इतना सोचती हूं, यह भी सोचना पड़ता है, पर पूछती हूं, शारदा धरती पर क्यों न रह सकी ? क्या मुझे भी जाना होगा ?···

तीसरा पत्र ऐसा था—

प्रिय बन्धु,

इतने दिन उनकी बीमारी में डूबी रही। तुमपर वह बेहद प्रसन्न हो उठे हैं। कहते हैं, मिल आओ, पर उन्हें कैसे बताऊं कि दूर कहां हूं जो मिलूं। अब बताना भी नहीं चाहती, क्योंकि इस धरती पर अद्वैत सम्भव नहीं। यहां तो एकाधिकार चाहिए। यहां पूंजी बंटती नहीं, तिजोरी में बन्द करके रखी जाती है, पर मैं कैसे रखूं···मैं शारदा का पथ पकड़ूंगी···

यह शायद अन्तिम पत्र था और इसमें उसके अन्त की ध्वनि थी। मैंने सहसा पूछा, 'उसकी मृत्यु कैसे हुई ?'

'बता तो चुका हूं।'

'मैं बताने की बात नहीं पूछता। सच्ची बात पूछता हूं।'

सुरेश ने तीखी दृष्टि से मुझे देखा फिर कहा, 'जिस दिन आदमी सच्ची बात जान लेगा उस दिन सब कुछ नष्ट हो जाएगा। विश्लेषण विनाश का मार्ग

है, प्रदीप !'

मैं हठात् उन्हें देखता रह गया। वे मुस्करा रहे थे। हाय ! वह जलती हुई मुस्कराहट ! मैंने विनम्र होकर कहा, 'मुझसे गलती हुई। मैं कुछ नहीं जानना चाहता।'

मैं सचमुच कातर होता गया। अब वे मेरी ओर देखते रह गए। आंख उनकी भी डबडबाने को हो आई। ठीक उसी समय नीरजा ने वहां प्रवेश किया। बेटी नीहार उसके साथ थी। उसे देखते ही सुरेश ने चौंककर कहा, 'यह कौन है ?''

'मेरी बेटी।'

'क्या रश्मि इस आयु में ऐसी ही नहीं रही होगी ?'

इस बात का किसीने जवाब नहीं दिया। रश्मि की मौत का समाचार पाकर नीरू एक क्षण हमें देखती रही फिर बोली, 'नहीं, वह मर नहीं सकती। वह आज भी ज़िन्दा है और सदा ज़िन्दा रहेगी।'

सुरेश ने इस बात में कोई रस नहीं लिया, वे जैसे खो गए थे। एक क्षण बाद उन्होंने कहा, 'क्या कभी-कभी मैं यहां आ सकता हूं ?'

'आपका सदा स्वागत होगा।'

फिर एक क्षण बाद उन्होंने नीरू से कहा, 'क्या आप उसका एक चित्र बना देंगी ?'

'आपकी आज्ञा होगी तो···'

'नहीं, नहीं,' वे सहसा बोल उठे, 'यह मोह है, निरा मोह, ढोंग···!'

और वे चले गए। रुके ही नहीं। सब प्रयत्न व्यर्थ गए और उसके बाद वे कभी आए भी नहीं। पत्र तक नहीं लिखा।

एक बार बम्बई में अचानक उनसे मेरी भेंट हो गई। वे सन्ध्या के समय समुद्र-तट पर कार से उतर रहे थे और उनके साथ नये वस्त्रों से लकदक एक नारी थी। मैंने उन्हें दूर से देखा। मैं जानता नहीं पर विश्वास करता हूं कि वे दोनों पति-पत्नी थे।

तब न जाने क्यों उस धूमिल अन्धकार में रश्मि की याद करके पहली बार मेरी आंखें भर आईं।

◇ ◇ ◇

ों का परिचय

ा

पींरी गेट, दिल्ली-६